॥ श्री अभिनवचन्द्रेश्वरो विजयतेतमाम् ॥

श्री कैलासविद्यालोकस्य पञ्चत्रिंशः (३५) सोपानः

काठकोपनिषत्

सटिप्पणटीकाद्वयसंवलितशाङ्करभाष्यसमेता
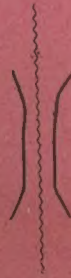
'गोविन्दप्रसादिनी' टिप्पणीकार विद्यावाचस्पति

महामण्डलेश्वर स्वामी विष्णुदेवानन्द गिरिजी महाराज

❀

'हिन्दी' व्याख्याकार वेदान्त-सर्वदर्शनाचार्य यतीन्द्रकुलतिलक श्रीकैलासपीठाधीश्वर

महामण्डलेश्वर स्वामी विद्यानन्द गिरिजी महाराज

❀

सम्पादक :

डॉ० उमेशानन्द शास्त्री

एम. ए, एल. एल. बी., पी. एच. डी., व्याकरणाचार्य

॥ श्री अभिनवचन्द्रेश्वरो विजयतेतमाम् ॥

श्री कैलासविद्यालोकस्य पञ्चत्रिंशः (३५) सोपानः

काठकोपनिषत्

आनन्दगिरिकृतटीकासंवलितशाङ्करभाष्यसमेता

'गोविन्दप्रसादिनी' टिप्पणीकार विद्यावाचस्पति

महामण्डलेश्वर स्वामी विष्णुदेवानन्द गिरिजी महाराज

❀

'हिन्दी' व्याख्याकार वेदान्त-सर्वदर्शनाचार्य यतीन्द्रकुलतिलक श्रीकैलासपीठाधीश्वर

महामण्डलेश्वर स्वामी विद्यानन्द गिरिजी महाराज

❀

सम्पादक :

डॉ० उमेशानन्द शास्त्री

एम. ए, एल. एल. बी., पी. एच. डी., व्याकरणाचार्य

प्रकाशक :

पट्टाभिषेक रजत महोत्सव महासमिति
मुनि की रेती, ऋषिकेश (उ०प्र०)

प्रथम संस्करण २०००	मूल्य	पुरुषोत्तमी एकादशी वि० सं० २०३९
द्वितीय संस्करण २०००	२५ रुपये	कार्तिक पूर्णिमा वि० सं० २०५०

* पुस्तक प्राप्ति स्थान *

- ❀ श्री कैलास आश्रम, मुनि की रेती, ऋषिकेश-२४९२०१ (उ.प्र.)
- ❀ श्री कैलास आश्रम, उजेली, उत्तरकाशी-२४९१९३ (उ.प्र.)
- ❀ श्री दशनाम संन्यास आश्रम, भूपतवाला, हरिद्वार-२४९४०२ (उ.प्र.)
- ❀ श्री कैलास धाम, कैलास धाम मार्ग, नई झूंसी, प्रयागराज-२२१५०६
- ❀ श्री कैलास विद्यातीर्थ, भाई वीरसिंह मार्ग, नई दिल्ली-११०००१
- ❀ श्री दक्षिणामूर्ति सं० म० विद्यालय, मिश्रपोखरा, वाराणसी-२२१००१
- ❀ श्री चौखम्बा विद्या भवन, चौक, वाराणसी-२२१००१
- ❀ श्री चौखम्बा विश्वभारती, चौक, वाराणसी-२२१००१
- ❀ श्री शङ्कर ब्रह्मविद्या कुटीर, द्वारका पुरी, मुजफ्फरनगर-२५१००१ (उ.प्र.)

मुद्रक—श्री कैलास विद्या प्रेस, श्री ब्रह्मानन्द आश्रम, मुनि की रेती, ऋषिकेश (उ.प्र.)

सम्पादकीय

'काठकोपनिषत्' अद्वैत वेदान्त का सिद्धान्त समझने वालों के लिए मौलिक एवं उपादेय ग्रन्थ है। 'कठ' शोके धातु से काठकोपनिषत् का नामकरण हुआ क्योंकि नचिकेता के पिता को पुत्र को आस्तिक्य बुद्धि को देखकर शोक हुआ था। 'मृत्यवे त्वा ददामि' (तुझे मृत्यु को दूँगा) ऐसा झुंझलाकर पिता ने पुत्र को कह डाला। इधर पुत्र ब्रह्मविद्या प्राप्त करने की इच्छा से यमराज के पास गये। मृत्यु को जीतने का उपाय ब्रह्मविद्या ही है, ऐसा इसके उपसंहार में कहा है—

"ब्रह्मप्राप्तो विरजोऽभूद्विमृत्युः"

मनुष्य की चित्तवृत्तियाँ उसे कहाँ-कहाँ तक भटका सकती है, इसका मार्मिक विवेचन नचिकेता-यमराज संवाद में किया गया है। शाङ्कर भाष्य एवं आनन्दगिरि टीका का आध्ययण कर अर्थ चिन्तन करने से विषयों से सहज विरक्त एवं शोक से पार जाने रूप साधन अर्थात् ब्रह्मविद्या अनुशीलन के प्रति दृढ़ अनुरक्ति हो जाती है। विद्यावाचस्पति महामण्डलेश्वर स्वामी विष्णुदेवानन्द गिरि जी महाराज की 'गोविन्द प्रसादिनी' टिप्पण उन ग्रन्थियों का भी भेदन कर डालती हैं, जहाँ भाष्यकार एवं टीकाकार पाठकों को विचार का अवकाश देते हैं किन्तु श्रोत्रिय एवं ब्रह्मनिष्ठा के अभाव में वहाँ तक उनकी बुद्धि नहीं पहुँच पाती। उदाहरणार्थ प्रथमाध्याय प्रथमवल्ली के पच्चीसवें मन्त्र के भाष्य की टिप्पण देखिए।

वेदान्त-सर्वदर्शनाचार्य यतीन्द्रकुलतिलक कैलासपीठादीश्वर महामण्डलेश्वर स्वामी विद्यानन्द गिरि जी महाराज की हिन्दी व्याख्या के साथ प्रस्तुत प्रकाशन वेदान्त प्रेमियों की तीव्रतर जिज्ञासा को शान्त करेगा। ईश, मुण्डक, माडुक्य एवं बृहदारण्यक उपनिषत् के प्रकाशन के बाद पाठकों को अन्य उपनिषदों की प्रतीक्षा थी। कई पत्र भी विज्ञ पाठकों के आते रहे। भगवान् विश्वनाथ की अपार महिमा एवं भगवती मन्दाकिनी की अहैतुकी कृपा से सम्पादन कार्य निर्विघ्न हो पाया। आशुतोष भगवान् शङ्कर अवशिष्ट उपनिषदों को भी आप तक यथाशीघ्र पहुँचाने में प्रेरक का कार्य करते रहेंगे ऐसी उनके श्रीचरणों में प्रार्थना है।

प्रस्तुत संस्करण के सम्पादन में जो कुछ भी स्खलन हैं, उनके लिए विज्ञ पाठक क्षमा करेंगे। इसमें जो कुछ भी अच्छाई है, वह गुरुजनों का कृपा प्रसाद है। अन्त में "त्वदीयं वस्तु गोविन्द तुभ्यमेव समर्पये" ॐ शम्

कैलास आश्रम, ऋषिकेश
पुरुषोत्तमी एकादशी

भवदीय
डॉ० उमेशानन्द शास्त्री

प्रस्तावना

दिशन्तु शम्मे गुरुपादपांसवः ।

शुक्ल और कृष्ण के भेद से दो भेद वाले यजुर्वेद की १०१ शाखायें थीं। इनमें से कृष्ण यजुर्वेद की कठशाखा के अन्तर्गत कठोपनिषत् आती है। इसमें यम और नचिकेता के सम्वादरूप से ब्रह्मविद्या का विस्तृत वर्णन किया गया है। इस उपनिषत् पर भाष्य लिखते समय आद्य भगवत्पाद शङ्कराचार्य जी ने ब्रह्मविद्या के आचार्य सूर्यपुत्र यम और नचिकेता को अत्यन्त आदर के साथ नमस्कार किया। इससे आचार्य ने न केवल ब्रह्मविद्या के प्रति आदर दिखलाया है, अपितु ब्रह्मविद्या के प्रवक्ता आचार्य और विद्यार्थी के प्रति भी अत्यन्त आदर सूचित किया है। गुरु-शिष्य सम्वाद के रूप में इसका अवतरण होने के कारण यह उपनिषत् सरल तथा सुबोध्य है। इसके कुछ मन्त्रों का शब्दतः और कुछ मन्त्रों का अर्थतः उल्लेख श्रीमद्भगवद्गीता में भी किया गया है। उपनिषत् का अर्थ ब्रह्मविद्या होता है, जिसका गम्भीर विवेचन इसमें मिलता है। साथ ही नचिकेता का जीवन पाठकों के सामने अनुपम आदर्श के रूप में उपस्थित किया गया है। नचिकेता के पिता वाजश्रवस को जहाँ एक ओर विश्वजिन्नामक यज्ञ के फल की आकांक्षा है, वहाँ दूसरी ओर पुत्र व्यामोह उससे अनर्थ करवा रहा है। फलतः अपनी समस्त सम्पत्ति का विभाग ऋषि ने कर दिया था, अर्थात् अच्छी-अच्छी गायें नचिकेता के हिस्से में और निकम्मी गायें अपने हिस्से में कर रखी थीं। दान के लिये उपस्थित की गयीं जीर्ण-शीर्ण गौओं को देख श्रद्धाविष्ट नचिकेता से रहा नहीं गया। वह बाल्य सुलभ चापल्य प्रदर्शित करते हुये अपने पिता से कहता है 'तत कस्मै माँ दास्यसि'' (अर्थात् हे पिता ! आप मुझे किस ऋत्विग्विशेष को दोगे) नचिकेता का प्रश्न अत्यन्त समुचित है; क्योंकि सर्वस्व दान किये बिना विश्वजित् यज्ञ पूर्ण नहीं होता। हम भी पिता की सम्पत्ति हैं, जिसे दानकर हमारे पिता इस यज्ञ को सम्पन्न करें और इसके फल का भागी बनें। इस प्रकार कई बार पूछने पर क्रोधावेश में ऋषि ने कहा कि मैं तुझे मृत्यु को दूँगा। क्रोधावेश में कहा हुआ भी पिता का वाक्य उपेक्ष्य नहीं है। अतः पिता के वाक्य को सत्य करने के लिये नचिकेता अपने पुण्य के फल स्वरूप सदेह यमलोक में पहुँच जाते हैं। उस समय यमराज वहाँ पर नहीं थे। उनकी अनुपस्थिति में भोजनाच्छादनादि की चिन्ता छोड़कर वे यमराज के द्वार पर तीन दिनों तक पड़े रहे; क्योंकि पिता के वाक्यानुसार वे यमराज को समर्पित हो चुके थे। उनके शरीर पर यमराज का ही पूर्ण अधिकार था। अतः उनसे मिले बिना उन्हें कुछ भी अच्छा नहीं लगता था। तीन दिनों के बाद जब यमराज आये तो अतिथि के महत्व को जानने वाले यम ने एक-एक उपावास के बदले एक-एक वरदान नचिकेता को दिया।

इस पर नचिकेता ने प्रथम वरदान से पितृसन्तोष, द्वितीय वरदान से स्वर्गलोक प्राप्ति के साधनभूत अग्निविज्ञान और तीसरे वर से आत्मज्ञान माँगा है। इन तीनों वरों के क्रम में भी अद्भुत रहस्य प्रतीत होता है। पिता के सत्य रक्षा के लिये नचिकेता उनकी इच्छा के विरुद्ध यमलोक चले आये थे। इससे उनके पिता के मन में स्वभावतः खेद था। ऐसी स्थिति में उन्हें सर्व प्रथम यह आवश्यक जान पड़ा कि पिता को वे सन्तुष्ट करें; क्योंकि पितृसन्तोष के बिना उन्हें भी शान्ति नहीं थी। लोक में यदि कोई आप से असन्तुष्ट एवं दुःखी हो, तो आप भी सुख की नींद नहीं सो सकते। फिर भला पूज्य पिता को सन्तुष्ट किये बिना कोई पुत्र कैसे सुखी हो सकता है। इस वरदान में पितृ-परितोष के साथ ही अपना नवजीवन वरदान माँगना भी अत्यन्त बुद्धिमत्ता का परिचायक है।

लौकिक शान्ति के बाद मानव को स्वभाव से ही पारलौकिक सुख की इच्छा होती है। पारलौकिक सुख की प्रबल आकांक्षा हो जाने पर साधक ऐहिक सुख की तिलाञ्जलि कर देता है। इसीलिये नचिकेता ने दूसरे वर से स्वर्गलोक प्राप्ति के साधन अग्निविज्ञान को माँगा, जो एकमात्र

परोपकार का ही सूचक है। स्वयं उन्हें स्वर्ग सुख की आकांक्षा नहीं थी। जैसा कि यमराज के द्वारा प्रलोभन दिये जाने पर भी आत्मज्ञान के लिये वे दृढ़ रहे और अपने लक्ष्य से विचलित नहीं हुये। तात्पर्य यह है कि जैसे प्रथम वर में नचिकेता को पिता की शान्ति अभीष्ट थी वैसे ही द्वितीय वर में मनुष्यमात्र की हितचिन्ता भी अभीष्ट है। सबके हित में उनका भी हित ही है।

इस प्रकार जब यमराज ने देखा कि नचिकेता के मन में विश्वकल्याण की कामना प्रदीप्त है और वे स्वयं ऐहिक तथा पारलौकिक भोगों से सर्वथा उदासीन हैं, इनमें पूर्ण विवेक-वैराग्य शम-दमादि साधन हैं और इनमें तीव्र मुमुक्षा की अग्निज्वाला धधक रही है, तो विवश हो नचिकेता की भूरिशः प्रसंसा करते हुये यमराज को उनकी शान्ति के लिये ज्ञानामृत की मूसलाधार वर्षा करनी पड़ी। वही ज्ञानवर्षा सम्पूर्ण बिश्वकल्याण के लिये आज भी कठोपनिषत् के रूप में हमारे समक्ष प्रस्तुत है; किन्तु इससे विशुद्ध बोधरूप अंकुर का उदय उसी के हृदय में हो सकता है, जो नचिकेता के समान साधन चतुष्टय सम्पन्न होगा। उदार जलधर जल तो सभी जगह समानरूप से बर्षाते हैं, किन्तु उससे लाभ योग्यतानुसार बिभिन्न भूमियों में पृथक्-पृथक् होता है। ऐसा ही शास्त्रोपदेश के सम्बन्ध में भी जानना चाहिये। आत्मज्ञान के लिये ईश्वर कृपा, शास्त्र-कृपा, गुरु कृपा और आत्मा की कृपा होनी चाहिये। इनमें से तीन की कृपा सब पर समानरूप से है; किन्तु आत्मकृपा के न्यूनाधिक्य के फल स्वरूप परिणाम में भेद हो जाता है।

इस अनुपम ज्ञानामृत का पानकर अमर जीवन की तीव्र आकांक्षा से प्रेरित हो हमें तदनुरूप योग्यता सम्पादन करनी चाहिये, क्योंकि मनुष्य जीवन का यही परम लक्ष्य है। कारण सहित दुःखों की आत्यन्तिक निवृत्ति और परमानन्द की प्राप्ति इस मानव जीवन में ही सम्भव है। इसके बिना जीवन अपूर्ण है और इसकी प्राप्ति का एकमात्र उपाय औपनिषद आत्मविज्ञान ही है। जो उपनिषत् के श्रवण, मनन और निदिध्यासनरूप विचार से ही सुलभ हो सकता है।

प्रस्तुत संस्करण में विश्व बिश्रुत शांकरभाष्य तथा आनन्दगिरि टीका के सहित कैलास आश्रम की प्राचीनतम टिप्पणियाँ एवं भाष्य को सरल सुबोध सुस्पष्ट हिन्दी में व्याख्या भी सम्मिलित है, जो अनुपम है। इससे पहले ऐसा कोई संस्करण इस कठोपनिषत् का नहीं निकला था। कैलास आश्रम शताब्दी महोत्सव प्रसङ्ग पर संस्थापित कैलास बिद्या प्रेस से अनेकों अमूल्य ग्रन्थरत्न प्रकाशित हो चुके हैं। इस कठोपनिषत् की टिप्पणियों को प्रेसकापी करने में न्यायाचार्य श्रीमान् रामनरेशदास शास्त्री जी का प्रयत्न श्लाघनीय रहा है। शाङ्करभाष्य की हिन्दी व्याख्या करते समय हमारे विचारों को लिपिबद्ध करने में वेदान्ताचार्य श्री ब्रह्मचारी रामानन्द शास्त्री ने अथक परिश्रम किया है। सर्वाधिक परिश्रम तथा बुद्धि कौशल इसके सम्पादक डा० उमेशानन्द शास्त्री जी तथा उनके सहायक श्री स्वामी केशवानन्द सरस्वती जी का हम मानते हैं; जिनके फलस्वरूप पाठकों के सम्मुख इस अभिनव संस्करण को प्रस्तुत करते हुये हमें अपार हर्ष हो रहा है। अतः इन सभी महानुभावों की हम मङ्गल कामना करते हैं।

इसके प्रकाशन से कैलास आश्रम के पूर्वाचार्य की कृति का संरक्षण होगा, साथ ही उनके अनुपम विचारों से बिद्वत्समाज तथा सामान्य जिज्ञासुओं का भी परम हित होगा। ऐसा कैलास आश्रम के अधिष्ठातृदेव तथा पूर्वाचार्यों से हम कृपा का वर माँगते हैं। इसी प्रकार शेष उपनिषदों का प्रकाशन भी यथाशीघ्र सम्पन्न हो जायगा, ऐसी सम्भावना है। इत्यों शम्।

भगवत्पादीयः

महामण्डलेश्वर स्वामी विद्यानन्दगिरि

कैलास आश्रम, ऋषिकेश।

दिनांक २६-६-८२

विषयानुक्रमणिका

प्रथमाध्याय प्रथमावल्ली

प्रथमाध्याय द्वितीयवल्ली

प्रथमाध्याय तृतीयवल्ली

द्वितीय अध्याय प्रथमवल्ली

द्वितीय अध्याय द्वितीयवल्ली

द्वितीय अध्याय तृतीयवल्ली

ॐ तत्सद्ब्रह्मणे नमः ।

काठकोपनिषत्

सटिप्पणटीकाद्वयसंवलितश्रीमच्छाङ्करभाष्यसमेता

ॐ स ह नाववतु । स ह नौ भुनक्तु । सह वीर्यं करवावहै ।
तेजस्विनावधीतमस्तु । मा विद्विषावहै । ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

भावः—वह परमात्मा हम (आचार्य और शिष्य एवं वक्ता और श्रोता) दोनों की साथ-साथ रक्षा करें। हम दोनों का साथ-साथ पालन करें, हम दोनों साथ-साथ विद्याजन्य सामर्थ्य का सम्पादन करें। हम दोनों का अधीत (ज्ञान) तेजस्वी हो और हम (कभी भी परस्पर) द्वेष न करें। त्रिविध ताप की शान्ति हो।

(अथ श्रीमच्छङ्करभगवत्पादविरचितं भाष्यम्)

ॐ नमो भगवते वैवस्वताय मृत्यवे ब्रह्मविद्याचार्याय नचिकेतसे च ।

(अथाऽऽनन्दगिरिटीका)

[1]धर्माधर्माद्यसंसृष्टं [2]कार्यकारणवर्जितम् ।
कालादिभिरविच्छिन्नं ब्रह्म यत्तन्नमाम्यहम् ॥१॥

यः [3]साक्षात्कृतपरमानन्दो [4]यावदधिकारं याम्ये पदे वर्तमानोऽ[5]कर्तृब्रह्मात्मतानुभवबलतो भूत[6]यातनानिमित्तदोषैरलिप्तस्वभाव आचार्यो [7]वरप्रदानेन परब्रह्मात्मैक्यविद्यामुपदिदेश यस्मै चोपदिदेश [8]ताभ्यां [9]नमस्कुर्वन्नाचार्यभक्तेर्विद्याप्राप्त्यङ्गत्वं दर्शयति—ॐ नमो भगवते वैवस्वतायेति ।

अवतरण भाष्य

ब्रह्मविद्या के आचार्य सूर्य पुत्र ऐश्वर्य सम्पन्न भगवान् यम और नचिकेता को नमस्कार है।

---

१. अखिलोपनिषत्तात्पर्यगोचरमन्यत्रधर्मादन्यत्राधर्मादित्यादिना नचिकेतसा पृष्टं विशुद्धं ब्रह्मैव मङ्गलायानुस्मरन्निबध्नाति—धर्माधर्मादीत्यादि । धर्मादिप्रतियोगिकसंसर्गाननुयोगीत्यर्थः । स च संसर्गो जन्यताजनकतान्यतररूपस्तथा च धर्माद्यजन्यं तदजनकं चेत्यर्थः । आदिना धर्मादिफलं सुखदुःखादिग्राह्यम् । २. विशेषाभावे सामान्याभावं हेतूकरोति—कार्येति । कार्यवर्जितमिति कारणत्वाभावोक्तिः । कारणवर्जितमिति कार्यत्वाभावोक्तिः । तत्र हेतुमाह—कालेति । कालादिपरिच्छिन्नमेव लोके कार्यं कारणं च दृष्टमिति भावः । ३. आचार्यगुणानाह—साक्षादित्यादिना । ४. प्रकृताचार्यमाचार्यान्तरेभ्यः पृथक्करोति—यावदधिकारं याम्ये पदे वर्तमान इति । यावदधिकारं यावत्प्रारब्धकर्मेति यावत् । यमस्येदं याम्यं "दित्यादित्यपत्युत्तरपदाण्ण्य" इत्यत्र यमाच्चेति काशिकायामिति कौमुदीकृदुक्तेः । ५. अकर्तृब्रह्मेत्यादि । "यस्य नाहं कृतो भाव" इत्यादिभगवदुक्तेरिति भावः । ६. यातना तीव्रवेदनेत्यमरः । ७. वरप्रदानेनेति । हेतौ तृतीया । कृपयैवाचार्यो विद्यामुपदिदेशेति भावः । ८. ताभ्यां नमस्कुर्वन्नाचार्यभक्तेरित्यादि—अस्मदादिपर्यन्तं विद्यासम्प्रदाये नचिकेतसोऽप्याचार्यत्वाविशेषात्तन्नमस्करणमपि नाचार्यभक्तेर्विद्याप्राप्त्यङ्गत्वप्रदर्शने विरुध्यत इति ध्येयम् । ताभ्यां नमस्कुर्वन्नित्यत्र "उपपदविभक्तेः कारकविभक्तिर्बलीयसी"ति नादृतमिति मन्तव्यम् । "कर्मणा यमभिप्रैति स सम्प्रदानमिति" वा । ९. नमस्कुर्वन्नित्यादि । हेतावत्र शता । प्राप्तविद्यस्यापि विद्याप्राप्त्यङ्गभक्त्यनुष्ठानं कृतज्ञतासम्पत्तयेऽप्राप्त-

अथ [1]काठकोपनिषद्वल्लीनां सुखार्थप्रबोधनार्थमल्पग्रन्था वृत्तिरारभ्यते । सदेर्धातोर्वि-शरणगत्यवसादनार्थस्योपनिपूर्वस्य क्विप्प्रत्ययान्तस्य रूपमुपनिषदिति । उपनिषच्छब्देन

---

[2]अथशब्दो मङ्गलार्थः । चिकीर्षितं प्रतिजानीते—काठकेति । [3]ननूपनिषदो वृत्तिर्नाऽऽरब्धव्या प्राणिनां कामकलुषितचेतसामुपनिषच्छ्रवणात्पराङ्मुखत्वाद्विशिष्टस्याधिकारिणो दुर्निरूपत्वाद्बन्धस्य च सत्यस्य कर्मभ्य एव निवृत्तेरुपनिषज्जन्यविद्याया निष्प्रयोजनत्वाज्जीवस्य चासंसारिब्रह्मात्मतायाः प्रतिपादयितुमशक्यत्वेन निर्विषयत्वाच्चेत्याशङ्क्योपनिषच्छब्दनिर्वचनेन विद्याया विशिष्टाधिकार्यादि-मत्त्वप्रदर्शनेन तज्जनकस्य ग्रन्थस्यापि विशिष्टाधिकार्यादिमत्त्वेन व्याख्येयत्वं दर्शयितुं प्रथममुपनिषच्छ-ब्दस्वरूपसिद्धिं तावदाह—[4]उपनिपूर्वस्येति । ब्रह्मविद्यायामुपनिषच्छब्दस्योपनिषदं भो ब्रूहीत्यादिप्रयोग-दर्शनाद्[5]धात्वर्थमाह—उपनिषच्छब्देनेति । [6]क्लृप्तावयवशक्त्यैव प्रयोगसम्भवे समुदायशक्तिरुपनिषच्छब्दस्य

(ब्रह्मात्मतत्त्वदर्शी याम्यपद पर वर्तमान विशुद्ध ज्ञान के बल से भूत यातनादि दोषों से सर्वथा अलिप्तस्वभाव यमाचार्य ने वर प्रदान के माध्यम से ब्रह्मविद्या का उपदेश नचिकेता को किया। उन दोनों को नमस्कार करते हुए भगवान् भाष्यकार यह सूचित कर रहे हैं कि आचार्यभक्ति ब्रह्मविद्या प्राप्ति का अंग है) अथ शब्द मंगलार्थक है। चिकीर्षित ग्रन्थ की प्रतिज्ञा भाष्यकार करते हैं कि अब कठोपनिषत् की वल्लियों को सुगमता से बोध कराने के लिये यह संक्षिप्तवृत्ति प्रारम्भ की जा रही है। उपनिषद् शब्दार्थ निर्वचन द्वारा इस ग्रन्थ के विशिष्ट अधिकारी आदि का निरूपण करते हैं।

सद्धातु का नाश, गति और शिथिल करना, ये तीन अर्थ होते हैं। उप और नि उपसर्ग पूर्वक उक्त सद्धातु से क्विप् प्रत्यय करने पर उपनिषद् शब्द बनता है। उपनिषद् शब्द से जिस ग्रन्थ की

विद्यानां शिष्याणां तदनुष्ठानप्रवृत्तये च "यद्यदाचरति श्रेष्ठः" "लोकसंग्रहमेवापि" इति स्मृतेः। ततो नेदं नमस्करणं मङ्गलार्थं निर्विघ्नसमाप्त्यर्थककर्मण एव मङ्गलत्वात्प्रकृतनमस्करणस्य च यथोक्तार्थकत्वात् मङ्गलार्थमथ-शब्दस्य वक्ष्यमाणत्वाच्च। ध्वनितं चेदमथशब्दो मङ्गलार्थ इति वदद्भिष्टीकाकृद्भिरिति ध्येयम्। आचार्यभक्ते-रित्याचार्यग्रहणं देवतोपलक्षणं "यस्य देवे परा भक्ति"रित्यादिश्रुतेः। १. काठकोपनिषदिति। कठेन प्रोक्तमधीयत इति कठाः। कठचरकाल्लुक्। तेषामाम्नायः काठकम्। गोत्रचरणाद्वुञ्। चरणाद्धर्माम्नाययोरिति वक्तव्यम्। काठकं च सोपनिषच्चेति समानाधिकरणसमासः। २. स्वयं नमस्करणेन विद्याप्राप्त्यङ्गभक्त्य-नुष्ठानं शिष्यान् शिक्षयित्वा भाष्यमारभमाणो मङ्गलमाचरतीत्याशयेनाह—अथशब्दो मङ्गलार्थ इति। "ओङ्कारश्चाथशब्दश्चे"त्यादिवचनादिति भावः। न चारम्भार्थ एवायमस्त्वथशब्दो मङ्गलत्वं तु प्राच्यं नमस्करणमेवेति शक्यं वक्तुमारम्भस्यारभ्यत इति शब्दत एवोक्तत्वादित्यवधेयम्। ३. "सिद्धार्थं सिद्धसम्बन्धं श्रोतुं श्रोता प्रवर्तत" इति न्यायं मनसि कृत्याऽऽक्षिपति—नन्विति। ४. उपनिपूर्वस्य क्विप्प्रत्ययान्तस्य विशरणाद्यर्थस्य सदेर्धातोरित्यन्वयं सूचयन्प्रतीकमादत्ते—उपनीत्यादिना। ५. धात्वर्थमाहेति—उपनिषच्छब्दघटकस्य सदेर्धा-तोरर्थं विद्यात्मकमाहेत्यर्थः। धात्वर्थस्यैव विद्यात्वादित्थमुक्तिरिति ज्ञेयम्। ६. क्लृप्तेति—नियतेत्यर्थः। प्रसिद्धेति यावत्।

च व्याचिख्यासितग्रन्थप्रतिपाद्य वेद्यवस्तुविषया विद्योच्यते । केन पुनरर्थयोगेनोपनिषच्छब्देन विद्योच्यत इत्युच्यते। ये मुमुक्षवो दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णाः सन्त उपनिषच्छब्दवाच्यां वक्ष्यमाणलक्षणां विद्यामुपसद्योपगम्य तन्निष्ठतया निश्चयेन शीलयन्ति तेषामविद्यादेः संसारबीजस्य विशरणाद्विसशनाद्विनाशनादित्यनेनार्थयोगेन विद्योपनिषदित्युच्यते। तथा च वक्ष्यति—"निचाय्य तं मृत्युमुखात्प्रमुच्यते" इति ।

पूर्वोक्तविशेषणान्मुमुक्षून्वा परं ब्रह्म गमयतीति ब्रह्मगमयितृत्वेन योगाद्ब्रह्मविद्योपनिषत् । तथा च वक्ष्यति—"ब्रह्म प्राप्तो विरजोऽभूद्विमृत्युः" इति । लोकादिर्ब्रह्मजज्ञो योऽग्निस्तद्विषयाया विद्याया द्वितीयेन वरेण प्रार्थ्यमानायाः स्वर्गलोकफलप्राप्तिहेतुत्वेन

न कल्पनीयेत्याह—केन पुनरिति । षद्लृ विशरणगत्यवसादनेष्विति धातोर्विशरणमर्थमादाय योगवृत्तिमाह—उच्यत इति । विषयेषु क्षयिष्णुत्वादिदोषदर्शनाद्विरक्ताः केचन मुमुक्षवः प्रसिद्धा न सर्वे भवादृशाः कामुका एवेति यच्छब्देन प्रसिद्धावद्योतकेन कथयति । आनुश्रविकाः शब्दप्रतिपन्नाः स्वर्गभोगादयः। उपसद्येति । आचार्योपदेशाल्लब्ध्वा यावत्साक्षात्कारं शीलयन्ति संसार्यसंसार्यैक्यासम्भावनादि निरस्यन्तीत्यर्थः ।

गत्यर्थमादायाऽऽह—पूर्वोक्तेति । अग्निविद्यायामप्यवसादनमादायोपनिषच्छब्दस्य वृत्तिमाह—लोकादिरिति । भूरादिलोकानामादिः प्रथमजो ब्रह्मणो जातो ब्रह्मजः स एव जानातीति ज्ञः । ग्रन्थे तु

व्याख्या करना चाहते हैं, उसके प्रतिपाद्य और वेद्य वस्तु ब्रह्मविद्या का ही प्रतिपादन किया गया है। किस अर्थ के सम्बन्ध से उपनिषद् शब्द का अर्थ विद्या कहा जाता है, उसे बतलाते हैं—लोक-परलोक के भोगों से विरक्त जो मुमुक्षु उपनिषद् शब्द से कहे जाने वाली विद्या को प्राप्त कर उसमें पूर्णनिष्ठा के साथ निश्चयपूर्वक परिशीलन करते हैं, उन मुमुक्षुओं के हृदयस्थ संसार के बीज अविद्या का विनाश करने वाला होने के कारण ब्रह्मविद्या को उपनिषद् शब्द से कहा गया है। ऐसा ही आगे श्रुति भी कहेगी कि उस आत्मा को साक्षात् जानकर पुरुष मृत्यु से छूट जाता है।

अथवा पूर्वोक्त विशेषणों से विशिष्ट मुमुक्षुओं को ब्रह्मविद्या परब्रह्म को प्राप्त करा देती है। इस प्रकार ब्रह्म की प्राप्ति कराने वाली होने के कारण ही ब्रह्मविद्या को उपनिषद् शब्द से कहा गया है। ऐसा ही श्रुति आगे कहेगी—ब्रह्म को प्राप्त हुआ पुरुष विशुद्ध और अमर हो गया।

भूर्भुवः आदि लोकों से भी पूर्व सिद्ध, ब्रह्मा से उत्पन्न और चेतन जो अग्नि है, उससे सम्बन्ध

---

१. प्रतिपाद्यस्वर्ग्याग्न्यादिविद्याया मुख्योपनिषत्त्वं वारयितुं वस्तु विशिनष्टि—वेद्येति । मुमुक्षूणामवश्यं वेदनार्हेत्यर्थः । २. अर्थयोगेनेति—अवयवार्थेनेति यावत् । ३. निचाय्येत्यादि—काठके १।३।१५ भाष्यं द्रष्टव्यम् । ४. काठक० २।३।१८ । ५. काठक० १।१।१५ । काठक० १।१।१७ । ६. योगवृत्तिमिति—समुदायशब्दस्यावयवशक्तिर्योगस्तेन वृत्ति वाचकत्वमिति यावत् । ७. आचार्योपदेशाल्लब्ध्वेति श्रवणमुक्तम् । ८. मनननिदिध्यासने विवक्षित्वा शीलयन्तीतिपदं व्याचष्टे—संसारित्यादिना । ९. ब्रह्मणो हिरण्यगर्भादित्यर्थः । "स त्रेधाऽऽत्मानं व्यकुरुताऽऽदित्यं तृतीयं वायुं तृतीयम्" (बृ० १-२-३) इत्यादि श्रुतेः ।

गर्भवासजन्मजराद्युपद्रववृन्दस्य लोकान्तरे पौनःपुन्येन प्रवृत्तस्यावसादयितृत्वेन शैथिल्यापादनेन धात्वर्थयोगादग्निविद्याऽप्युपनिषदित्युच्यते । तथा च वक्ष्यति—"[1]स्वर्गलोका अमृतत्वं भजन्ते" इत्यादि । ननूपनिषच्छब्देनाध्येतारो ग्रन्थमप्यभिलपन्ति । उपनिषदमधीमहेऽध्यापयाम इति च । एवं नैष [2]दोषोऽविद्यादिसंसारहेतुविशरणादेः सदिधात्वर्थस्य ग्रन्थमात्रेऽसंभवाद्विद्यायां च सम्भवात् । ग्रन्थस्यापि तादर्थ्येन तच्छब्दत्वोपपत्तेः । "आयुर्वै घृतम्" (तै. सं. २/३/११) इत्यादिवत् । तस्माद्विद्यायां मुख्यया वृत्त्योपनिषच्छब्दो वर्तते ग्रन्थे तु भक्त्येति । एवमुपनिषच्छब्दनिर्वचनेनैव विशिष्टोऽधिकारी विद्यायामुक्तः । विषयश्च विशिष्ट उक्तो विद्यायाः परं ब्रह्म प्रत्यगात्मभूतम् । प्रयोजनं चास्या उपनिषद आत्यन्तिकी संसारनिवृत्तिर्ब्रह्मप्राप्तिलक्षणा । सम्बन्धश्चैवंभूतप्रयोजनेनोक्तः । अतो यथोक्ताधिकारिविषय-

---

भक्त्येत्यु[3]पचारेणोपनिषच्छब्दप्रयोग इत्यर्थः । उपनिषच्छब्दनिर्वचनेन सिद्धमर्थमाह—एवमित्यादिना । आत्यन्तिकी [4]निदाननिवृत्त्या निवृत्तिर्विवक्षिता । निदानं चा[5]न्वयव्यतिरेकशास्त्रन्यायेभ्यः संसार-

---

रखने वाली विद्या को दूसरे वरदान द्वारा नचिकेता ने माँगा है और स्वर्गलोक फल की प्राप्ति के कारण होने से लोकान्तरों में बार-बार प्राप्त होने वाले गर्भवास जन्म-जरा आदि सम्पूर्ण उपद्रवों को शिथिल करने वाली अग्निविद्या को भी उपनिषद् कहा गया है क्योंकि सद् धातु का सम्बन्ध इस अर्थ के साथ भी कहा जाता है। इसे भी श्रुति आगे कहेगी कि स्वर्ग को प्राप्त होने वाले पुरुष अमर हो जाते हैं।

शङ्का:—यदि कहो कि अध्ययन करने वाले पुरुष को हम उपनिषद् पढ़ते हैं और पढ़ाते हैं इत्यादि व्यवहार से उपनिषद् शब्द से ग्रन्थ को भी कहा जाता है।

समाधान—ऐसा कहना भी दोष युक्त नहीं है। संसार के कारण अविद्यादि का नाश होना अर्थ ग्रन्थमात्र में सम्भव नहीं है किन्तु ब्रह्मविद्या में ही सम्भव है। ऐसी विद्या के लिए ग्रन्थ उपयोगी होने के कारण ग्रन्थ को भी उपनिषद् शब्द से कहा जाता है। जैसे आयुवर्द्धक घृत को आयु शब्द से कहा जाता है। अतः उपनिषद् शब्द का मुख्य अर्थ ब्रह्मविद्या है, उसके प्रापक ग्रन्थ को गौणीवृत्ति से उपनिषद् शब्द द्वारा कहा गया है।

इस प्रकार उपनिषद् शब्द का निर्वचन करने से ही विद्या का विशिष्ट अधिकारी बतला दिया गया और प्रत्यगात्मकरूप परब्रह्म इसका विशिष्ट विषय भी बतला दिया गया। ऐसे ही इस उपनिषद्

---

१. काठक० १।१।१३ । २. दोषोऽध्येत्रभिलापविरोधात्मा । ३. उपचारेणेति—सहचरणादिनिमित्तेन अतद्भावे तद्वदभिधानमुपचारः तेन । लक्षणयेति यावत् । ४. निदानेति—निदानं त्वादिकारणमित्यमरः । मुख्यत्वमत्रादित्वम् । ५. अन्वयेत्यादि—अविद्यासत्त्वे संसारसत्त्वं तदभावे तदभाव इत्यन्वयव्यतिरेकाभ्यां च विद्वदनुभवं विवक्षतीति मन्तव्यम् । "अनीशया शोचति मुह्यमानः" इत्यादिशास्त्रं न्यायो युक्तिः—जगन्मिथ्या दृश्यत्वाच्छुक्तिरूप्यवत् । मिथ्यात्वाच्चाज्ञानकृतं तद्वदेवेत्यादिरूपा ।

ॐ उशन्ह वै वाजश्रवसः सर्ववेदसं ददौ ।
तस्य ह नचिकेता नाम पुत्र आस ॥१॥

यह बात शास्त्रों में प्रसिद्ध है कि विश्वजित् यज्ञ के फल को चाहते हुए वाजश्रवा के पुत्र ने (विश्वजित् यज्ञ में) अपना सम्पूर्ण धन दे दिया। उस (यजमान) का नचिकेता नामक एक पुत्र था ॥१॥

प्रयोजनसम्बन्धाया विद्यायाः करतलन्यस्तामलकवत्प्रकाशकत्वेन विशिष्टाधिकारिविषय-प्रयोजनसम्बन्धा एता वल्लयो भवन्तीति ।

अतस्ता यथाप्रतिभानं व्याचक्ष्महे—

तत्राऽऽख्यायिका विद्यास्तुत्यर्था । उशन्कामयमानो ह वा इति वृत्तार्थस्मरणार्थौ

स्याऽऽत्मैकत्वाविद्या । सा च न कर्मणा विनिवर्तते तो विद्यायाः प्रयोजनेन साध्यसाधनलक्षणः सम्बन्ध इत्यर्थः ।

वश कान्ताविवत्यस्य शत्रन्तं रूपमुशन्निति । श्रवः कीर्तिः । सर्वमेधेन सर्वस्वदक्षिणेनेजे

का प्रयोजन संसार दुःखों की आत्यन्तिक निवृत्ति और ब्रह्म प्राप्ति बतला दिये गये हैं एवं उक्त प्रयोजन के साथ इसका साध्य-साधन सम्बन्ध भी कह दिया गया। अतः उपर्युक्त अधिकारी, विषय, प्रयोजन और सम्बन्ध वाली विद्या को हस्तामलकवत् प्रकाशित करने वाली होने के कारण इस कठोपनिषद् की वल्लियाँ विशिष्ट अधिकारी आदि से युक्त कही गयी हैं, उन्हीं वल्लियों की व्याख्या हम अपनी बुद्धि अनुसार करते हैं।

वाजश्रवा का दान

यहाँ पर आख्यायिका ब्रह्मविद्या की स्तुति के लिये है (विश्वजित् यज्ञ के) फल की कामना

---

१. प्रकाशकत्वेन जनकत्वेनेति यावत् । वल्लीनामिति शेषः । २. सम्बन्धा इति—गोपालटीकातः । संबद्धा इति पाठो गम्यते । ३. विद्यास्तुत्यर्थेति—यमेन दिव्यभोगादिभिः प्रलोभ्यमानोऽपि नचिकेता विद्यार्थमेव तान-जहादित्येवं महिमेयं विद्येतिस्तुतिराख्यायिकात एव लभ्यत इति भावः । ४. सकामस्य तस्य कर्मणः साङ्गत्वमेव संपादयितव्यमासीत् सर्वत्र कामुकत्वात्तु लोभेन नासौ, तथा कृतवान्नित्यधर्म एव सकामधर्म इति सूचयितुमुशन्पद-मित्याशयेन व्याचष्टे—कामयमान इति । निष्कामस्य तु न साङ्गताद्याग्रहः नेहाभिक्रमनाशोऽस्तीत्यादिस्मृतेः । "मन्त्रो हीनः स्वरत" इत्यादि श्रवणात्सकामस्य तु साङ्गतादिनियम एवेति भावः । ५. सा चेत्यादि—शुक्त्यविद्यादेः कर्मणा निवृत्त्यदर्शनादिति भावः । ६. अत इति—अविद्याया विद्यैकनिवर्त्यत्वादिति यावत् । ७. उशन्निति—ग्रहिज्येत्या-दिना संप्रसारणादुत्वमिति भावः । ८. निघण्टौ श्रवोयशःशब्दौ धननामसु पठितावत्र तु कीर्तिपरावेवेत्याशयेनाह—श्रवः कीर्तिरिति श्रूयत इति व्युत्पत्तेः ।

निपातौ [1]वाजमन्नं तद्दानादिनिमित्तं श्रवो यस्य स वाजश्रवा रूढितो वा तस्यापत्यं वाजश्रवसः किल विश्वजिता । सर्वमेधेनेजे [2]तत्फलं [2]कामयमानः । स तस्मिन्क्रतौ सर्ववेदसं [4]सर्वस्वं धनं ददौ दत्तवान् । [5]तस्य यजमानस्य ह नचिकेता [6]नाम [7]पुत्रः [8]किलाऽऽस बभूव ।१।

यजनं कृतवानित्यर्थः ॥१॥

वाला 'ह' और 'वै' ये दोनों निपात अतीत वृतान्त के स्मरणार्थ हैं। वाज अन्न को कहते हैं, उसके दानादि से जिसे यश प्राप्त हुआ हो, उसे वाजश्रवा कहते हैं अथवा रूढि से भी उसका नाम वाजश्रवा हो सकता है। उस वाजश्रवा के पुत्र वाजश्रवस् ने विश्वजित् नामक यज्ञ के फल की कामना करते हुए विश्वजित् यज्ञ द्वारा यजन किया। विश्वजित् यज्ञ में सर्वस्व समर्पण करने की विधि कही गयी है। तदनुसार उस यज्ञ में वाजश्रवस् यजमान ने अपना सारा धन दे डाला। यह प्रसिद्ध है कि इस यजमान का एक नचिकेता नामक अनुपम पुत्र था ॥१॥

---

१. वाजमन्नमिति—निरुक्तनिघण्टौ द्वितीयाध्यायसप्तमखण्डे—अन्धः । वाज इत्येवमष्टाविंशतेरन्ननाम्नां पाठात् । परं तत्र वाज इति पुँल्लिङ्गपाठः क्लीबत्वमप्यतो भाष्यादवगन्तव्यम् । २. उशन् कामयमान इत्युक्तं तत्रापेक्षितं कर्मपदमाह—तत्फलमिति । विश्वजितः फलं स्वर्गमित्यर्थः । पुनः कामयमान इति पदमन्वयप्रदर्शनार्थम् । ३. ननु उशन् सर्वस्वं ददाविति विरुद्धं नहि स्वयं लुब्धोऽपरस्मै तृणमपि दातुमिच्छति किमुत सर्वस्वमिति । न चाधिकमुशन् निहीने विरज्यतीत्यविरोध इति वाच्यं तथा सति पीतोदका इत्यादि-धर्मवञ्चनां कुर्यात्कथमित्याशङ्क्य कीर्तिलोभादुशन्नपि ददावित्याशयेन पितुर्नामाचक्षाण आह-वाजमित्यादि । पितुर्गुणाः पुत्रे लेशतोऽनुवर्तन्त इति भावः । न चैवं व्याख्याने तत्फलं कामयमान इति भाष्यं कथमिति शङ्कितव्यं तस्य च्छलोक्तिख्यापकत्वात्कीर्तेरपि लौकिकफलत्वेन तत्फलत्वविशेषाच्च । न चैवं पुरोक्तमुशन्पदतात्पर्यं व्याहन्येतेति वाच्यं कीर्तिकामेऽपि साङ्गतोपयोगादित्यलं बहुना । ४. सान्तो नपुंसकलिङ्गो वेदस्-शब्दो निरुक्तनिघण्टौ "मघं रेक्णः रिक्थं वेदः" इत्येवमादि धननामसु पठितः सर्वञ्च तद्वेदश्चेति कर्मधारयतत्पुरुषे सति "अनसन्तान्नपुंसकाच्छन्दसी"ति समासान्तष्टजित्याशयेन व्याचष्टे—सर्वस्वं धनमिति । ५. ननु उशन्हेत्यादि पूर्ववाक्येन तस्य हेत्याद्युत्तरवाक्यस्यानाकाङ्क्षितत्वादसंबद्धत्वमित्याशङ्क्य सर्ववेदसं ददावित्यस्य पीतोदका इत्यादिना विरोधपरिहारार्थत्वान्न तस्य तथात्वमित्याशयेन व्याचष्टे—तस्य यजमानस्येति । पीतोदकत्वादि-विशेषणैस्तावत्पास्यमानोदकादयो व्यावर्त्यन्ते न च व्यावृत्तिर्व्यावर्त्यासत्त्वे सम्भवतीति शोभनगवीनां रक्षितत्वमवगम्यते । तथा च सर्वस्वदानोक्तिर्विरुध्यते । ततः कथं सोक्तिः संगच्छत इत्याकाङ्क्षायामाह—तस्येत्यादि । पुत्रसत्त्वात्तन्नामाङ्कितानां शोभनगवीनां रक्षितत्वेऽपि स्वनामाङ्कितानां पीतोदकादीनां सर्वासां दानात्सर्वस्वदानोक्तिरविरुद्धेति भावः । ६. तत्कालीनबालेषु लोकोत्तरप्रतिभादिगुणालङ्कृतत्वेन नचिकेतसः सर्वलोक-प्रसिद्धिद्योतकोऽयं निपात इत्याशयेनाह—नामेति । कथमन्यथा बालमात्रलभ्यत्वबोधिकयाऽनयाऽऽख्यायिकया विद्यायाः स्तुतिः सम्पाद्येतेत्यवधेयम् । ७. पुत्र इति—पुंनाम्नो नरकात् पितुस्त्राणकारित्वबोधकेनानेन श्रद्धा-वेशादियोग्यता नचिकेतसः सूच्यते । ८. हेति निपातपर्यायः किलेति ।

तꣳ ह [1]कुमारꣳ सन्तं दक्षिणासु नीयमानासु
श्रद्धाऽऽविवेश सोऽमन्यत ॥२॥
पीतोदका जग्धतृणा दुग्धदोहा निरिन्द्रियाः ।

जिस समय दक्षिणाएँ (दक्षिणा के लिए गौएँ विभागपूर्वक) ले जायी जा रही थीं, उसी समय कुमार अवस्था वाला होते हुए भी नचिकेता में श्रद्धा (अपने पिता के हित के लिए आस्तिक्य बुद्धि) प्रविष्ट हो गयी। तब वह नचिकेता सोचने लगा ॥२॥

जो जल पी चुकी हैं, घास खा चुकी हैं, जिनका दूध भी दुह लिया गया है और जिनमें बच्चा

तं ह नचिकेतसं कुमारं [2]प्रथमवयसं सन्तमप्राप्तप्रजननशक्तिं बालमेव श्रद्धाऽऽस्तिक्य-बुद्धिः पितुर्हितकामप्रयुक्ताऽऽविवेश प्रविष्टवती। कस्मिन्काल इत्याह—ऋत्विग्भ्यः सदस्येभ्यश्च दक्षिणासु नीयमानासु विभागेनोपनीयमानासु [3]दक्षिणार्थासु गोषु स आविष्ट-श्रद्धो नचिकेता अमन्यताऽऽलोचितवान् ॥२॥

कथमित्युच्यते—पीतोदका इत्यादिना। दक्षिणार्था गावो विशेष्यन्ते। पीतमुदकं

---

[4]सदसि यज्ञसभायां येऽन्ये मिलिता ब्राह्मणास्तेभ्यश्च ॥२॥
पीतमुदकं प्रागेव नोत्तरकालं पानशक्तिरप्यस्तीत्यर्थः ॥३॥

पुत्र उत्पादन शक्ति जिसे प्राप्त नहीं हुई ऐसी प्रथमावस्था में स्थित उस नचिकेता बालक में पिता की हित कामना से प्रेरित श्रद्धा यानी आस्तिक बुद्धि का प्रवेश हुआ। वह भी किस समय? जबकि ऋत्विक् और सदस्यों की दक्षिणा के लिये विभागपूर्वक गौएँ लायी जा रही थीं। ऐसे अवसर पर श्रद्धानिष्ठ नचिकेता ने विचार किया ॥२॥

---

१. कुमारमिति—विशुद्धमना बालोऽपि यमर्थं वेत्ति न तं वृद्धोऽपि लोभाद्याक्रान्तचेता इत्यनर्थहेतवस्त्याज्या एव लोभादयः पाप्मान इत्युपदेष्टुं कुमारग्रहणम्। २. प्रथमवयसमिति—पञ्चवर्षीयमित्यर्थः। तथा चोक्ते भा. १० श्रीधरैः "कौमारं पञ्चमाब्दान्तं पौगण्डं दशमावधी"ति। यौवनाभावविवक्षणे वा षोडशवर्षादर्वाञ्चम्। वयांसि चत्वारीत्येके। यदाहुः "आद्ये वयसि नाधीतं द्वितीये नार्जितं धनम्। तृतीये न तपस्तप्तं चतुर्थे किं करिष्यसी"ति। त्रीणीत्यन्ये यदाहुः—"पिता रक्षति कौमारे भर्ता रक्षति यौवने। पुत्रस्तु स्थाविरे भावे न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति" (मनु० ९-३) इति। "शतायुर्वै पुरुष" इति दृष्ट्या वयोविभागे। उपचयापचयलक्षणे द्वे एव वयसी इति मते च युवाऽपि प्रथमवयाः स्यादत आह—अप्राप्तप्रजननशक्तिमिति। क्लीबोऽपि तथाऽत आह—बालमेवेति। ३. पीतोदका इत्यादिवक्ष्यमाणमनुसंधाय दक्षिणापदार्थमाह-दक्षिणार्थासु गोष्विति। ४. सदसि साधवः सदस्याः "तत्र साधु" रिति प्राग्घितीयो यदित्याशयेन सदस्यपदार्थमाह—सदसीति।

अनन्दा नाम ते लोकास्तान्स गच्छति ता ददत् ॥३॥
स होवाच पितरं तत कस्मै मां दास्यसीति ।
द्वितीयं तृतीयं तꣳ होवाच मृत्यवे त्वा ददामीति ॥४॥

देने का सामर्थ्य नहीं रहा है; ऐसी गौओं का दान करने में वह दाता उन लोकों में जाता है, जो लोक आनन्द से सर्वथा शून्य हैं ॥३॥

तब उसने अपने पिता से कहा—हे तात ! आप मुझे (किस ऋत्विज् विशेष) को दक्षिणार्थ दोगे ? इसी प्रकार उसने दूसरी और तीसरी बार भी कहा। तब क्रुद्ध होकर पिता ने उससे कहा—मैं तुझे मृत्यु को दूँगा ॥४॥

याभिस्ता पीतोदकाः । जग्धं भक्षितं तृणं याभिस्ता जग्धतृणाः । दुग्धो दोहः क्षीराख्यो यासां ता दुग्धदोहाः । निरिन्द्रिया अप्रजननसमर्था जीर्णा निष्फला गाव इत्यर्थः । यास्ता एवंभूता गा ऋत्विग्भ्यो दक्षिणाबुद्ध्या ददत्प्रयच्छन्ननन्दा अनानन्दा असुखा नामान इत्येतद्ये ते लोकास्तान्स यजमानो गच्छति । ॥३॥

तदेवं क्रत्वसंपत्तिनिमित्तं पितुरनिष्टं फलं मया पुत्रेण सता निवारणीयमात्मप्रदानेनापि क्रतुसंपत्तिं कृत्वेत्येवं मत्वा पितरमुपगम्य स होवाच पितरं 'हे तत तात, कस्मै ऋत्विग्विशेषाय दक्षिणार्थं मां दास्यसि?' इति 'प्रयच्छसीत्येतत् । एवमुक्तेन पित्रोपेक्ष्यमाणोऽपि

॥४॥

नचिकेता की विचार पद्धति

किस प्रकार विचार किया ? इसे आगे के मन्त्रों से कहते हैं। दक्षिणा के लिये लायी गयी गौएँ ऐसी थीं, जिन्होंने जल पी लिया उन्हें पीतोदका कहते हैं अर्थात् प्यास लगने पर जल के पास जाकर स्वयं जल पीने में असमर्थ हैं। जो घास खा चुकी हैं अर्थात् जिनमें घास खाने की शक्ति नहीं है, ऐसी गौएँ जग्धतृणा कही जाती हैं। जिनका दूध दुहा जा चुका है, उन्हें दुग्धदोहा कहते हैं और जो सन्तान उत्पन्न करने में सर्वथा असमर्थ हों, उन्हें निरिन्द्रिय कहते हैं अर्थात् सर्वथा बूढ़ी और निकम्मी गौएँ हैं, ऐसी गौओं को दक्षिणा बुद्धि से देने वाला यजमान सुख से रहित लोकों को प्राप्त करता है क्योंकि ऐसी गौएँ भारस्वरूप होने के कारण दान ग्रहीता ऋत्विजों को दुःख ही देंगी, जिस के फलस्वरूप दाता यजमान को सुखहीन नरकादि लोकों की प्राप्ति भी सम्भव हो जाती है ॥३॥

पिता-पुत्र सम्वाद

इस परिस्थिति में इस प्रकार यज्ञ की पूर्णता न होने के कारण जो पिता को अनिष्ट फल होगा, उसे मुझ जैसे सुपुत्र को आत्म बलिदान करके रोकना चाहिए। ऐसा विचार कर वह पिता के पास जाकर बोला कि आप मुझे किस ऋत्विज् विशेष को दक्षिणा के रूप में देंगे। पिता ने नचिकेता की

---

१. भविष्यतो वर्तमानसामीप्यं सूचयन् व्याचष्टे—प्रयच्छसीति ।

बहूनामेमि प्रथमो बहूनामेमि मध्यमः ।
कि"स्विद्यमस्य कर्तव्यं यन्मयाऽद्य करिष्यति ॥५॥

(नचिकेता एकान्त में विचार करने लगा कि) मैं बहुत से (शिष्यों या पुत्रों) में प्रथम वृत्ति से चलता हूँ और बहुतों में मध्यम वृत्ति से चलता हूँ (अधम वृत्ति से कभी नहीं चलता, फिर भला) यम का कौन ऐसा कार्य है, जिसे आज पिता मेरे द्वारा सम्पन्न करना चाहते हैं ॥५॥

द्वितीयं तृतीयमप्युवाच कस्मै मां दास्यसि कस्मै मां दास्यसीति । नायं कुमारस्वभाव इति क्रुद्धः सन्पिता तं पुत्रं किलोवाच मृत्यवे वैवस्वताय त्वा त्वां ददामीति ॥४॥

स एवमुक्तः पुत्र एकान्ते परिदेवयाञ्चकार । कथमित्युच्यते । बहूनां शिष्याणां पुत्राणां वैमि गच्छामि प्रथमः सन्मुख्यया शिष्यादिवृत्येत्यर्थः । मध्यमानां च बहूनां मध्यमो मध्यमयैव वृत्त्यैमि । नाधमया कदाचिदपि । तमेवंविशिष्टगुणमपि पुत्रं मां मृत्यवे त्वा ददामीत्युक्तवान्पिता । स किंस्विद्यमस्य कर्तव्यं प्रयोजनं मया प्रत्तेन करिष्यति यत्कर्तव्यमद्य । नूनं प्रयोजनमनपेक्ष्यैव क्रोधवशादुक्तवान्पिता ॥५॥

यथावसरं गुरोरिष्टं ज्ञात्वा शुश्रूषणे प्रवृत्तिर्मुख्या । आज्ञावशेन मध्यमा । तदपरिपालनेनाधमा । मया दत्तेन यत्कर्तव्यमद्य यमस्य करिष्यति तत्किं कर्तव्यमासी[1]न्नाऽऽसीदेव [2]विधानाभावात् । कथं तर्ह्युक्तवानित्यत आह—नूनमिति ॥५॥

बात की उपेक्षा कर दी और पुत्र नचिकेता ने बार-बार अपनी बात दोहरा दी कि मुझे किसको देंगे, मुझे किसको देंगे, तब पिता ने यह सोचकर कहा कि यह बाल-स्वभाव नहीं है । अतः क्रोधित होकर पिता ने उस पुत्र से कहा—मैं तुझे सूर्य के पुत्र यमराज को देता हूँ ॥४॥

इस घटना से पिता-पुत्र दोनों ही के मन में अनुताप हुआ । अतः पिता द्वारा इस प्रकार कहे जाने पर वह पुत्र एकान्त देश में बैठकर अनुताप करने लगा । किस प्रकार अनुताप किया ? उसे बतलाते हैं । मैं बहुत-से शिष्यों या पुत्रों में मुख्य शिष्यादि वृत्ति से चलता हूँ एवं बहुतों में मध्यम शिष्यादि वृत्ति से चलता हूँ अधम वृत्ति से मैं कभी भी नहीं चलता । ऐसे विशिष्ट गुण सम्पन्न पुत्र को कहा कि मैं तुझे मृत्यु को देता हूँ । भला यमराज का कौन-सा काम अपूर्ण होगा, जिसे इस प्रकार मुझे यमराज के हाथों सौंपकर मेरे माध्यम से सिद्ध करेंगे अथवा किसी प्रयोजन की अपेक्षा किये बिना ही

---

१. अद्य करिष्यतीति प्रयोजननिष्पत्तेरद्यतनभविष्यत्त्वं प्रयोजनस्य प्राक् सत्त्वं सूचयतीत्याशयेनाह—आसीदिति ।

२. विधानाभावादिति—न ह्यग्न्यादिभ्यो हविर्दानवदृत्विगादिभ्यो दक्षिणाप्रदानवच्च यमाय पुत्रप्रदानं यागविधौ विधीयत इति भावः सति तु विधाने प्रयोजनमुन्नीयेतेति च ।

अनुपश्य यथा पूर्वे प्रतिपश्य तथाऽपरे ।
सस्यमिव मर्त्यः पच्यते सस्यमिवाऽऽजायते पुनः ॥६॥

जिस प्रकार पूर्व पुरुष (पितृ-पितामहादि) व्यवहार कर चुके हैं, उसे देखें। (उनमें से मृषा-करण किसी का नहीं रहा है क्योंकि) मनुष्य खेती की भाँति पकता है अर्थात् वृद्ध होकर मर जाता है और फिर खेती की भाँति ही उत्पन्न होता है। (ऐसे अनित्य जीव लोक में असद् व्यवहार से क्या लाभ ? अतः मुझे यम के पास भेज कर अपने सत्य का पालन करें) ॥६॥

तथाऽपि तत्पितुर्वचो मृषा मा भूदित्येवं मत्वा परिदेवनापूर्वकमाह पितरं शोकाविष्टं किं मयोक्तमिति ।

अनुपश्याऽऽलोचय निभालयानु क्रमेण यथा येन प्रकारेण वृत्ताः पूर्वेऽतिक्रान्ताः पितृ-पितामहादयस्तव । तान्दृष्ट्वा च तेषां वृत्तमास्थातुमर्हसि वर्तमानाश्चापरे साधवो यथा वर्तन्ते तांश्च प्रतिपश्याऽऽलोचय तथा । न च तेषु मृषा करणं वृत्तं वर्तमानं वाऽस्ति । तद्विपरीतमसतां च वृत्तं मृषा करणम् । न च मृषा कृत्वा कश्चिदजरामरो भवति । यतः सस्यमिव मर्त्यो मनुष्यः पच्यते जीर्णो म्रियते । मृत्वा च सस्यमिवाऽऽजायत आविर्भवति पुनरेवमनित्ये जीवलोके किं मृषाकरणेन । [1]पालयाऽऽत्मनः सत्यम् । प्रेषय मां यमा-येत्यभिप्रायः ॥६॥

॥६॥

क्रोधावेश में पिता ने ऐसा कहा है, फिर भी पिता का वचन मिथ्या न हो; ऐसा विचार कर नचिकेता ने उस शोकाविष्ट पिता से कहा—मैंने क्या कह डाला ? ऐसे शोक एवं चिन्ता से आतुर हो रहे थे। उस समय नचिकेता के मन में भी खेद था ॥५॥

आपके पिता-पितामहादि पुरुष जैसा आचरण करते रहे हैं, उनकी ओर देखें; उन्हें देखकर उन्हीं के आचरणों का पालन आपको करना चाहिए और वर्तमान समय में दूसरे साधु लोग जैसा आचरण करते हैं, उनकी ओर भी दृष्टिपात करें। उनमें किसी का भी आचरण अपने कथन को मिथ्या करने में न था और न आज ही है। इसके ठीक विपरीत असत् पुरुषों का आचरण मिथ्या करना ही है। पर अपने आचरण को मिथ्या करके भी कोई अजर-अमर तो हो नहीं सकता, क्योंकि मनुष्य खेती की भाँति पकता है और जीर्ण होकर मर जाता है। वैसे ही मर कर खेती की भाँति पुनः उत्पन्न होता है। ऐसी स्थिति में इस अनित्य संसार में असत्य आचरण से क्या लाभ है ? अतः अपने सत्य का पालन करें अर्थात् मुझे यमराज के पास भेज देवें ॥६॥

---

१. पालयाऽऽत्मनः सत्यमिति । सत्यं कृत्वाहि भवत्यजरामरः सत्येन पन्था विततो देवयान इति श्रुतेरिति भावः ।

वैश्वानरः प्रविशत्यतिथिर्ब्राह्मणो गृहान् ।
तस्यैताꣳ शान्तिं कुर्वन्ति हर वैवस्वतोदकम् ॥७॥
[1]आशाप्रतीक्षे [2]संगतꣳ [3]सूनृतां चे[4]ष्टापूर्ते पुत्र-

ब्राह्मण अतिथि बनकर अग्नि ही भवन में प्रवेश करता है। (इसीलिये साधु पुरुष) उस अतिथि को यह (अर्घ्य-पाद्य प्रदान रूप) शान्ति किया करते हैं। अतः हे वैवस्वत ! (इस ब्राह्मण अतिथि नचिकेता के लिये) जल ले आओ ॥७॥

जिसके घर में ब्राह्मण (अतिथि) भोजन किये बिना ही निवास करता है, उस मन्दबुद्धि पुरुष

स एवमुक्तः पिताऽऽत्मनः सत्यतायै प्रेषयामास । स च यमभवनं गत्वा तिस्रो रात्रीरुव स यमे प्रोषिते । प्रोष्याऽऽगतं यमममात्या भार्या वा ऊचुर्बोधयन्तो वैश्वानरोऽग्निरेव साक्षात्प्रविशत्यतिथिः सन्ब्राह्मणो गृहान्दहन्निव तस्य दाहं शमयन्त इवाग्नेरेतां [5]पाद्यासनादिदानलक्षणां शान्ति कुर्वन्ति सन्तोऽतिथेर्यतोऽतो हराऽऽहर हे वैवस्वतोदकं [6]नचिकेतसे [7]पाद्यार्थम् । यतश्चाकरणे प्रत्यवायः श्रूयते ॥७॥

श्रुत्यनुक्त[8]पूर्वभाषणादिकमपि कथायामपेक्षितं पूरयति—स एवमुक्तः पितेति ॥७॥

यमलोक में नचिकेता

नचिकेता-पुत्र के ऐसा कहने पर पिता ने अपनी सत्यता की रक्षा के लिए उसे यमराज के पास भेज दिया। वह नचिकेता यमाचार्य के घर पहुँच कर तीन रात्रि रहा, क्योंकि यमराज उस समय प्रवास में गए हुये थे। प्रवास से लौटने पर यमराज से उनकी पत्नी और मन्त्रियों ने समझाते हुये कहा।

साक्षात् वैश्वानर अग्नि ही ब्राह्मण अतिथि के रूप में दग्ध करता हुआ गृहों में प्रवेश करता है, उस अग्नि के दाह को शान्त करते हुए की भाँति सज्जन गृहस्थ अतिथि के लिए अर्घ्य-पाद्यादि प्रदानरूप शान्ति किया करते हैं। अतः हे यम ! नचिकेता के अर्घ्य-पाद्यादि प्रदान के लिये जल ले जावें क्योंकि ऐसा न करने पर प्रत्यवाय सुना जाता है ॥७॥

---

१. गृहान्प्रविशतोऽतिथेर्ब्राह्मणस्योक्तं वैश्वानरत्वमुपपादयति—आशेति। पुत्रेत्यतः प्राक्तना आशादिशब्दा आशादिफलपरास्तत्फलनाशस्यैवानिष्टत्वात्। २. संगतं संयोगो मैत्रीति यावत्। तथा च पाणिनीयं सूत्रम्—"अजर्यं संगतमि"ति। ३. सूनृतं प्रिये सत्ये इत्यमरः। ४. इष्टं च पूर्तं चेष्टापूर्ते पृषोदरादित्वात्पूर्वपददीर्घत्वम्। ५. पाद्येति—पाद्यं पादाय वारिणीत्यमरः। पादार्घाभ्यां चेति यत्। देवतान्तात्तादर्थ्ये यदित्यतोऽनुवर्तमानः। ६. नचिकेतस इति चतुर्थी षष्ठ्यर्था। ७. पाद्यार्थमिति—पादाभ्यां हिता पाद्या प्रक्षालनक्रिया तदर्थमित्यर्थः। तस्मै हितमिति शरीरावयवाद्यत्। दन्त्यमित्यादिवत्। पाद्यत्वेनार्थ्यत इति पाद्यार्थम्। ८. पूर्वभाषणादिकमिति—पूर्वभाषणत्वादिकमित्यर्थस्तथा च नचिकेतः पूर्वभाषणस्य अनुपश्येत्यादिरूपस्य स्वरूपः श्रुत्युक्तत्वेऽपि तत्त्वस्य स एवमुक्त इति भाष्येणैवोच्यमानत्वान्न विरोधः। प्रेषणाद्यादिशब्दार्थः।

पशूᳪश्च सर्वान् । एतद्वृङ्क्ते पुरुषस्याल्पमेधसो

यस्यानश्नन्वसति ब्राह्मणो गृहे ॥८॥

को ज्ञात और अज्ञात वस्तुओं की प्राप्ति की इच्छाओं, इनके सम्बन्ध से होने वाले फल, (अग्निहोत्रादि) इष्ट और (वापी-कूप-तडागादि निर्माणरूप) पूर्त कर्मों के फल, समस्त पुत्र तथा पशु आदि को यह नष्ट कर देता है। (अतः सभी अवस्थाओं में अतिथि सत्कार के योग्य है) ॥८॥

---

[1]आशाप्रतीक्षे अनिर्ज्ञातप्राप्येष्टार्थप्रार्थनाऽऽशा निर्ज्ञातप्राप्यार्थप्रतीक्षणं प्रतीक्षा ते आशाप्रतीक्षे। संगतं [2]सत्संयोगजं फलं सूनृतां च सूनृता हि प्रिया वाक्तन्निमित्तं च। इष्टापूर्ते इष्टं यागादिजं पूर्तमारामादिक्रियाजं फलम्। पुत्रपशूंश्च पुत्राश्च पशूंश्च सर्वानितत्सर्वं यथोक्तं वृङ्क्त [3]आवर्जयति विनाशयतीत्येतत्। पुरुषस्याल्पमेधसोऽल्प[4]प्रज्ञस्य। यस्या[5]नश्नन्नभुञ्जानो ब्राह्मणो गृहे वसति। तस्मादनुपेक्षणीयः सर्वावस्थास्वप्यतिथिरित्यर्थः ॥८॥

॥८॥

अज्ञात वस्तु की प्राप्ति की इच्छा को आशा कहते हैं और ज्ञात वस्तु की प्राप्ति की इच्छा को प्रतीक्षा कहते हैं। इन दोनों को और इनके संयोग से प्राप्त होने वाले फल को प्रियभाषण और उससे होने वाले फल यागादि इष्ट कर्म के अनुष्ठान से होने वाला फल, वापी, कूप, तड़ागादि के बनवाने से होने वाला फल पुत्र एवं पशु, इन सभी को नष्ट कर डालता है, जिस मन्दबुद्धि गृहस्थ के घर में अतिथि ब्राह्मण बिना भोजन किये रह जाता है। अतः अतिथि सभी अवस्थाओं में उपेक्षा के योग्य नहीं है, यही इसका तात्पर्य है ॥८॥

---

१. यतश्चाकरणे प्रत्यवायः श्रूयत इति प्रत्यवायश्रुतिमवतार्य व्याचष्टे—आशेति। २. सत्संयोगजमित्यत्र योगजमित्येव पाठो गोपालटीकानुसारतोऽवगन्तव्यः। ३. वृजी वर्जने इत्यादादिकस्य धातोरिदित्त्वमतेन वृङ्क्त इति रूपमित्याशयेन व्याचष्टे—आवर्जयतीति। आ समन्ताद्वर्जयतीत्यर्थः। एतदेव स्फुटयति—विनाशयतीत्येतदिति। ४. अल्पा मेधा यस्येति विग्रहे "नित्यमसिच्प्रजामेधयो"रिति समासान्तोऽसिजित्याशयेन व्याचष्टे—अल्पप्रज्ञस्येति। यद्यपि तत्र नञ्दुःसुभ्यो हलिसक्थ्योरन्यतरस्यामित्यतो नञ्दुःसुभ्य इत्यस्यानुवृत्तिरभ्युपगता तथापि "अस्वरितत्वादेवान्यतरस्यां ग्रहणाननुवृत्तिसिद्धौ नित्यग्रहणमन्यतो विधानार्थमिति वृत्तिकारादिभिरास्थीयत" इति द्रष्टव्यम्। ५. अनश्नन्नभुञ्जान इति। एवं विजानद्भिर्भार्याऽऽमात्यादिभिर्नूनमनुरुध्यमानोऽपि भोजनाद्यर्थं नचिकेता नूनं मद्वियोगपीडितो मत्पिता न भवेद्भुक्तवान् मामेव प्रतीक्षमाण इति मयापि कथं भुज्येतेति मनीषया नैव भुक्तवानित्यवगम्यते।

तिस्रो रात्रीर्यदवात्सीर्गृहे मेऽनश्नन्ब्रह्मन्नतिथि-
र्नमस्यः । नमस्तेऽस्तु ब्रह्मन्स्वस्ति मेऽस्तु
तस्मात्प्रति त्रीन्वरान्वृणीष्व ॥९॥

हे ब्रह्मन् ! तुझे नमस्कार हो, मेरा कल्याण होवे (पूर्व मन्त्रोक्त अनिष्ट न हो) । तुम नमस्कार योग्य अतिथि होते हुए भी मेरे घर पर तीन रात्रि भोजन किये बिना रहे। अतः एक-एक रात्रि अनशन के बदले में मुझसे (एक-एक वरदान) अर्थात् तीन वरदान माँग लो ॥९॥

एवमुक्तो मृत्युरुवाच नचिकेतसमुपगम्य पूजापुरःसरम् । तिस्रो रात्रीर्यद्यस्मादवात्सी-रुषितवानसि गृहे मे ममानश्नन्हे ब्रह्मन्नतिथिः सन्नमस्यो नमस्कारार्हश्च तस्मान्नमस्ते तुभ्यमस्तु भवतु । हे ब्रह्मन्स्वस्ति भद्रं मेऽस्तु तस्माद्भवतोऽनशनेन मद्गृहवासनिमित्ता-[1]द्दोषात्तत्प्राप्त्युपशमेन । यद्यपि [2]भवदनुग्रहेण सर्वं[3] मम [4]स्वस्ति स्यात्तथाऽपि त्वदधिक-प्रसादनार्थमनशनेनोषितामे[5]कैकां रात्रिं प्रति त्रीन्वरान्वृणीष्वाभिप्रेतार्थविशेषान्[6]प्रार्थयस्व मत्तः ॥९॥

॥९॥

वर माँगने के लिए यमराज का अनुरोध

पत्नी एवं मन्त्रियों द्वारा इस प्रकार कहे जाने पर यमराज ने नचिकेता के पास जाकर उसको पूजा के बाद कहा कि हे ब्राह्मण ! आपने अतिथि और नमस्कार योग्य होकर भी तीन रात्रि पर्यन्त कुछ खाये बिना जो मेरे घर में निवास किया है अतः आपको नमस्कार है। बिना भोजन किये मेरे घर पर आपके निवास निमित्त से होने वाले दोष के कारण जिस अशुभ फल की आशङ्का की जा सकती है, उसकी निवृत्ति हो जाय और मेरा मङ्गल हो। यद्यपि आपकी कृपा से मेरा सभी प्रकार कल्याण हो जायेगा, फिर भी अपनी अधिक प्रसन्नता के लिये आपसे यह मेरी प्रार्थना है कि बिना भोजन किये मेरे घर पर बिताई गयी एक-एक रात्रि के बदले आप अपने अभीष्ट तीन वर माँग लें ॥९॥

---

१. दोषादिति—प्रत्यवायरूपादित्यर्थः । २. भवदनुग्रहेणेति—स्वाभाविकेन मत्प्रार्थनाप्रयुक्तेन वेत्यर्थः । ३. सर्वं ममाशा प्रतीक्षादि । ४. स्वस्त्यनुकूलं सुखावहमिति यावत् । ५. एकैकां रात्रिं प्रत्येकैकमित्येवं त्रीनित्यर्थः । त्रीनित्यत्र वीप्साऽभावान्न नवप्रसक्तिरिति भावः । ६. प्रार्थयस्व मत्त इति—मत्सकाशाद्याचस्वेत्यर्थः । अपादानस्य विवक्षितत्वादकथितं चेति कर्मत्वाभावः । वराणामवश्यं दास्यमानत्वाविष्करणाय चापादानत्वं विवक्षितमित्यवधेयम् ।

शान्तसंकल्पः सुमना यथा स्याद्वीतमन्युर्गौतमो
माऽभि मृत्यो । त्वत्प्रसृष्टं माऽभिवदेत्प्रतीत
एतत्त्रयाणां प्रथमं वरं वृणे ॥१०॥

हे मृत्यु ! (मेरे पिता) गौतम (वाजश्रवस) मेरे प्रति जैसे शान्त सङ्कल्प, प्रसन्नचित्त और क्रोधरहित हों तथा तुम्हारे लौटा देने पर मुझ (पूर्ववत्) पहिचान कर वार्तालाप करें; यही (आपके दिये हुए) तीन वरों में से पहला वर मैं माँगता हूँ ॥१०॥

नचिकेतास्त्वाह—यदि दित्सुर्वरान्भगवञ्शान्तसङ्कल्प उपशान्तः सङ्कल्पो यस्य मां प्रति यमं प्राप्य [1]किंनु करिष्यति मम पुत्र इति स शान्तसंकल्पः सुमनाः [2]प्रसन्नमनाश्च यथा स्याद्वीतमन्यु[3]र्विगतरोषश्च गौतमो मम पिता माऽभि मां प्रति हे मृत्यो । किंच त्वत्प्रसृष्टं त्वया विनिर्मुक्तं प्रेषितं गृहं प्रति मा मामभिवदेत्प्रतीतो लब्धस्मृतिः स एवायं पुत्रो ममाऽऽगत इत्येवं प्रत्यभिजानन्नित्यर्थः । एतत्प्रयोजनं त्रयाणां वराणां प्रथममाद्यं वरं वृणे प्रार्थये यत्पितुः परितोषणम् ॥१०॥

प्रेतीभूतोऽयमागतो नावलोकनीय इति मत्वो[4]पेक्षां यथा न करोति तथा प्रसादं कुर्वित्याह—किञ्च त्वत्प्रसृष्टमिति ॥१०॥

नचिकेता का पितृसन्तोषरूप प्रथम वर

नचिकेता ने कहा—यदि आप वर देना चाहते हो तो प्रथम वर यही देवें कि मेरे पिता के मन में जो सङ्कल्प हो रहा है कि न जाने मेरा पुत्र यमराज के पास जाकर क्या करेगा ? मेरे सम्बन्ध में मेरे पिता का यह सङ्कल्प शान्त हो जाय, वे प्रसन्न चित्त और क्रोध रहित हो जाएँ । हे यमराज ! मेरा विश्वास है कि आप मुझे यहाँ से अपने पिता के पास जाने के लिये आज्ञा दे देंगे उस समय आपके भेजने पर मेरे पिता, मेरा वही पुत्र नचिकेता लौट आया है, ऐसी लब्ध स्मृति हो मुझसे सम्भाषण करें । बस अपने पिता की प्रसन्नतारूप प्रयोजन वाला वर ही मैं आपके तीन वरों में से पहला वर माँग रहा हूँ ॥१०॥

---

१. किंनु करिष्यतीति सर्वजनमारकं मृत्युमासाद्यात्माऽमरणाय कं यत्नं करिष्यति न खलु तत्सविधे यत्नः कस्यापि कश्चित फलतीति भावः । सदयं सस्नेहं चाह—मम पुत्र इति । २. प्रसन्नमना इति पुत्रस्य मे धर्मप्रियत्वाद्यमस्य च धर्मराजत्वाद्धर्मो रक्षति रक्षित इति नियमाज्जीविष्यत्येव मे पुत्र इत्येवं प्रसन्नं मनो यस्येत्यर्थः । ३. विगतरोषश्चेति—ऊहाः पापं पितरं मामेकाकिनमपहाय क्व गतोऽसीति रोषो यस्य विगत इत्यर्थः । मन्युः पुमान् क्रुधि दैन्ये शोके च यज्ञे चेति मेदिनी । ४. उपेक्षां मम त्यागमित्यर्थः ।

यथा पुरस्ताद्भविता प्रतीत औद्दालकिरारुणि-
र्मत्प्रसृष्टः । सुखꣳ रात्रीः शयिता वीतमन्युस्त्वां
ददृशिवान्मृत्युमुखात्प्रमुक्तम् ॥११॥

मुझसे प्रेरित हुआ अरुण पुत्र उद्दालक तुझे पूर्ववत् पहिचान कर (प्रेम करेगा) और (शेष जीवन की) रात्रियों में सुख पूर्वक सोएगा, क्योंकि मृत्यु के मुख से छूटा हुआ तुझे देखेगा ॥११॥

ततो मृत्युरुवाच—यथा बुद्धिस्त्वयि पुरस्तात्पूर्वमासीत्स्नेहसमन्विता पितुस्तव भविता प्रीतिसमन्वितस्तव पिता तथैव [1]प्रतीतः [2]प्रतीतवान्सन्नौद्दालकिः । [3]उद्दालक एवौद्दालकिः । अरुणस्यापत्यमारुणिर्द्व्यामुष्यायणो वा मत्प्रसृष्टो मयाऽनुज्ञातः सन्नि[4]तरा अपि रात्रीः सुखं

औद्दालकिरिति तद्धितः स्वार्थे व्याख्यातोऽ[5]पत्यार्थे व्याख्येय इत्याह—द्व्यामुष्यायणो वेति । [6]अमुष्य प्रख्यातस्यापत्यमामुष्यायणः । [7]द्वयोः पित्रोः पूर्वभाषादिना सम्बन्धी चासावामुष्यायणश्च । न [8]जारज इत्यर्थः ॥११॥

मृत्यु ने कहा—तेरे पिता की बुद्धि तुझ पर जैसी स्नेह सिक्त पहले थी, वैसे ही वह औद्दालीक आगे भी प्रीतियुक्त हो तुझ पर विश्वस्त हो जाएगा। यहाँ पर उद्दालक को ही औद्दालीक शब्द से कहा है, वैसे ही अरुण के पुत्र होने के कारण आरुणि कहते हैं अथवा यह भी हो सकता है कि वह द्व्यामुष्यायण हो (एक का पुत्र जब दूसरे की गोद में चला जाता है, उस स्थिति में दोनों ही पितरों के पिण्डदानादि का अधिकारी वह हो जाता है। वह दत्तक पुत्र दोनों पिता की सम्पत्ति का स्वामी भी हो जाता है। सम्भव है वाजश्रवस्, उद्दालक एवं अरुण में से एक का औरस पुत्र हो और दूसरे की गोद में गया हो। इसीलिये वाजश्रवस् को औद्दालकि एवं आरुणि दो नाम से श्रुति ने कहा है।

---

१. प्रतीत इति—गत्यर्थाकर्मकश्लिषशीङ्स्थासवसजनरुहजीर्यतिभ्यश्चेत्यनेन कर्तरि क्तान्तमित्याशयेन व्याचष्टे—प्रतीतवानिति । २. प्रतीतवानिति—क्तवत्वन्तम् । ३. द्वैमातुरस्य प्रसिद्धत्वेऽपि द्वैपित्रस्या तथात्वादेकपित्रं स्वार्थे व्याख्याति—उद्दालक एवौद्दालकिरिति । ४. इतरा अपीति—अनेन पूर्वा अपि तिस्रो रात्रीर्मदनुग्रहात्सुखमेव शयितस्त्वत्पितेति गमयतीति मन्तव्यम् । ५. अपत्यार्थे व्याख्येय इति—तस्य तस्मिन्नेवात इञिति विहितत्वादिति भावः । ६. आमुष्यायणामुष्यपुत्रिकामुष्यकुलिकेति चेति वचनात् षष्ठ्या अलुक् नडादिभ्यः फगित्यपत्यार्थे फगित्याशयेन विगृह्णाति—अमुष्य प्रख्यातस्येति । उद्दालकस्येत्यर्थः । तस्यैव प्रख्यातत्वादपत्यार्थे व्याख्येय इति टीकानुरोधाच्चेत्यवधेयम् । ७. कथं द्वैपित्रत्वं घटतेऽत आह—द्वयोः पित्रोः पूर्वभाषादिना सम्बन्धीति । पूर्वमेकस्मै कन्याप्रदानं भाषित्वा कारणविशेषवशादन्यस्मै प्रदाने सम्भवति तज्जस्य द्वैपित्रत्वं धृतराष्ट्रादीनामिव वेत्यादिशब्दार्थः । ८. न जारज इति जारस्तूपपतिः समावित्यमरः ।

स्वर्गे लोके न भयं किंचनास्ति न तत्र त्वं न जरया बिभेति । उभे तीर्त्वाऽशनायापिपासे शोकातिगो मोदते स्वर्गलोके ॥१२॥

हे मृत्यु ! स्वर्गलोक में (रोगादि निमित्तक) कुछ भी भय नहीं है। वहाँ पर आपका भी वश नहीं चलता। न कोई वहाँ पर वृद्धावस्था से ही डरता है बल्कि स्वर्गलोक में पुरुष क्षुधा एवं पिपासा दोनों को पार करके शोक से ऊपर उठ जाता है और आनन्दित होता है ॥१२॥

प्रसन्नमनाः शयिता स्वप्ता वीतमन्युर्विगतमन्युश्च भविता स्यात्त्वां पुत्रं ददृशिवान्दृष्टवान्सन्मृत्युमुखान्मृत्युगोचरात्प्रमुक्तं सन्तम् ॥११॥

नचिकेता उवाच—स्वर्गे लोके रोगादिनिमित्तं भयं किञ्चन किञ्चिदपि नास्ति । न च तत्र त्वं मृत्यो सहसा प्रभवस्यतो जरया युक्त इह लोकवत्त्वत्तो न बिभेति कश्चित्तत्र । किञ्चोभे अशनायापिपासे तीर्त्वाऽतिक्रम्य शोकमतीत्य गच्छतीति शोकातिगः सन्मानसेन दुःखेन च वर्जितो मोदते हृष्यति स्वर्गलोके दिव्ये ॥१२॥

स्वर्गसाधनमग्निज्ञानं प्रष्टुं स्वर्गस्वरूपं तावदाह—स्वर्गे लोक इति ॥१२॥

भाष्यकार ने इसी अभिप्राय से वाजश्रवस् को द्वयामुष्यायण कहा)। मुझसे प्रेरित हो वह जीवन की शेष रात्रियों में भी सुखपूर्वक प्रसन्न चित्त से सोएगा और मृत्यु के मुख से छूटा हुआ तुझ पुत्र को देखकर वह क्रोध रहित हो जाएगा ॥११॥

स्वर्ग के स्वरूप का वर्णन

नचिकेता ने कहा—स्वर्ग लोक में रोगादि के कारण होने वाला थोड़ा भी भय नहीं है। हे मृत्यु ! वहाँ आप भी सहसा प्रभाव नहीं जमा सकते। अतः इस लोक की भाँति वहाँ पर वृद्धावस्था से युक्त हो कोई भी पुरुष आपसे कहीं नहीं डरता, इतना ही नहीं बल्कि वे भूख-प्यास दोनों को पार कर शोक का अतिक्रमण कर मानसिक दुःख से छुटकारा पाकर उस दिव्य स्वर्गलोक में गया हुआ पुरुष सदा प्रसन्न रहता है ॥१२॥

---

१. मृत्युगोचरादिति—भावप्रधानत्वान्मृत्युविषयताया इत्यर्थः । मत्कृतमारणादिति यावत् । मद्दत्तविद्याप्रभावान्मृत्युगोचरात्संसारादिति तु निगूढार्थः । २. स्वर्गसाधनमग्निज्ञानं प्रष्टुमिति । यदेतदग्निकर्मणि पित्रा लोभादिना दक्षिणाङ्गे वैगुण्यमकारितदहमग्निज्ञानं तत्त्वतो यमादेव साक्षात्समधिगम्य प्रमार्जितास्मि श्रूयते हि सम्प्रति कर्मप्रस्तावे "स य धनेन किंचिदक्षणयाऽकृतं भवति तस्मादेनँसर्वस्मात्पुत्रो मुञ्चतीति" इति मन्वानो नचिकेता इत्यादिः । अक्षणया कोणच्छिद्रतो यागैकदेशे इति यावत् । अकृतम् लोभादिना विस्मरणाद्वा अन्यथाकृतं नैव वा कृतमित्यर्थः ।

स त्वमग्निᳩ स्वर्ग्यमध्येषि मृत्यो प्रब्रूहि तᳩ श्रद्दधानाय मह्यम् । स्वर्गलोका अमृतत्वं भजन्त एतद्द्वितीयेन वृणे वरेण ॥१३॥

प्र ते ब्रवीमि तदु मे निबोध स्वर्ग्यमग्निं

हे मृत्यु ! (पूर्वोक्त गुणविशिष्ट) स्वर्ग के साधन भूत अग्नि को आप जानते हैं, उसे मुझ श्रद्धालु को बतलावें (जिसके द्वारा) स्वर्ग को प्राप्त हुए पुरुष अमरत्व (देवत्व) को प्राप्त करते हैं। बस ! मैं द्वितीय वर से यही माँगता हूँ ॥१३॥

हे नचिकेता ! उस स्वर्ग देने वाले अग्नि को अच्छी प्रकार जानता हुआ मैं तेरे लिए उसे

एवंगुणविशिष्टस्य स्वर्गलोकस्य प्राप्तिसाधनभूतमग्निं स्वर्ग्यं स त्वं मृत्युरध्येषि स्मरसि जानासीत्यर्थः । हे मृत्यो, यतस्त्वं प्रब्रूहि कथय श्रद्दधानाय श्रद्धावते मह्यं स्वर्गार्थिने । येनाग्निना चितेन स्वर्गलोकाः स्वर्गो लोको येषां ते स्वर्गलोका यजमाना अमृतत्वममरणतां देवत्वं भजन्ते प्राप्नुवन्ति तदेतदग्निविज्ञानं द्वितीयेन वरेण वृणे ॥१३॥

मृत्योः प्रतिज्ञेयम् । प्र ते तुभ्यं प्रब्रवीमि । यत्त्वया प्रार्थितं तदु मे मम वचसो निबोध बुध्यस्वैकाग्रमनाः सन्स्वर्ग्यं स्वर्गाय हितं [1]स्वर्गसाधनमग्निं हे नचिकेतः प्रजानन्वि-

---

॥१३॥

इयं च वक्ष्यमाणा मृत्योः प्रतिज्ञाऽवगन्तव्या । "स त्रेधाऽऽत्मानं [2]व्यकुरुत" इति श्रुतेरग्निवाय्वा-

---

स्वर्ग साधन अग्निविद्यारूप द्वितीय वर

हे मृत्यु ! आप ऐसे गुण विशिष्ट स्वर्गलोक की प्राप्ति के साधन अग्नि को जानते हो । अतः स्वर्गार्थी मुझ श्रद्धालु के प्रति उस अग्नि का वर्णन करो, जिस अग्नि के चयन करने से स्वर्गलोक प्राप्त करने वाले स्वर्गार्थी यजमान अमृतत्व यानी देवभाव को प्राप्त हो जाते हैं । इसी अग्निविद्या को मैं दूसरे वरदान के रूप में आपसे माँगता हूँ ॥१३॥

वरदान के लिए यमराज की यह प्रतिज्ञा

हे नचिकेता ! तुमने जिसके लिए प्रार्थना की है, उस स्वर्ग प्राप्ति में हितकर स्वर्ग के साधन-

---

१. स्वर्गाय हितमित्यर्थाभिधानमात्रं तस्मै हितमित्यस्य प्राक्क्रीताच्छ इति छाधिकारे पठितत्वात् उगवादिभ्यो यदित्यपि न गवादिगणे स्वर्गशब्दस्यापठितत्वात् आकृतिगणत्वाभावाच्च किन्तु "तदस्य प्रयोजन"मित्याधिकारे "अनुप्रवचनादिभ्यश्छः" इति सूत्रे स्वर्गादिभ्यो यद्वक्तव्य इति वचनात् स्वर्गः प्रयोजनमस्येत्येव विग्रह इत्याशयेनाह—स्वर्गसाधनमिति । २. व्यकुरुतेत्यनन्तरम् "आदित्यं तृतीयं वायुं तृतीयम्" (बृ. १-२-३) इति श्रुतिशेषो द्रष्टव्यः । स विराडात्मा ।

नचिकेतः प्रजानन् । अनन्तलोकाप्तिमथो प्रतिष्ठां
विद्धि त्वमेतं निहितं गुहायाम् ॥१४॥
लोकादिमग्निं तमुवाच तस्मै या इष्टका
यावतीर्वा यथा वा । स चापि तत्प्रत्यवदद्यथोक्त-
मथास्य मृत्युः पुनरेवाऽऽह तुष्टः ॥१५॥

कहता हूँ । तू उस अग्नि विज्ञान को मुझसे अच्छी प्रकार समझ ले । इसे तू अनन्त लोकों की प्राप्ति का साधन, उसका आधार और बुद्धिरूपी गुफा में उसे स्थित जान ॥१४॥

तदनन्तर यमराज ने लोकों के आदिकारणरूप उस अग्निविद्या को नचिकेता के लिए कह दिया । उस अग्नि के चयन में जैसी और जितनी ईंटें होती हैं एवं जिस प्रकार उसका चयन किया जाता हैं, उसका भी वर्णन नचिकेता के प्रति कर दिया और उस नचिकेता ने भी जैसे के तैसे उस अग्निविद्या को सुना दिया । इससे प्रसन्न हो कर मृत्यु ने फिर कहा ॥१५॥

ज्ञातवानहं सन्नित्यर्थः । प्रब्रवीमि तन्निबोधेति च शिष्यबुद्धिसमाधानार्थं वचनम् । अधुनाऽग्निं स्तौति । अनन्तलोकाप्तिं स्वर्गलोकफलप्राप्तिसाधनमित्येतत् । अथो अपि प्रतिष्ठामाश्रयं जगतो विराड्रूपेण तमेतमग्निं मयोच्यमानं विद्धि जानीहि त्वं निहितं स्थितं गुहायां विदुषां बुद्धौ निविष्टमित्यर्थः ॥१४॥

इदं श्रुतेर्वचनम् । लोकादिं लोकानामादिं प्रथमशरीरित्वादग्निं तं प्रकृतं नचिकेतसा[1] प्रार्थितमुवाचोक्तवान्मृत्युस्तस्मै नचिकेतसे । किंच या इष्टका[2] चेतव्याः स्वरूपेण ।

दित्यरूपेण समष्टिरूपो विराडेव व्यवस्थित इति तेन विराड्रूपेणाग्निर्जगतः प्रतिष्ठेत्युच्यते ॥१४॥

सप्रपञ्चमग्निज्ञानं [3]चयनप्रकरणाद्द्रष्टव्यमिति श्रुतिरस्मान्बोधयतीत्याह—इदं श्रुतेर्वचन-मिति ॥१५॥

रूप अग्नि को एकाग्रचित्त हो मेरे वाक्य से तू अच्छी प्रकार समझ ले क्योंकि मैं उसे अच्छी प्रकार जानने वाला विशेषज्ञ हूँ । ऐसा अग्निविज्ञानवेत्ता मैं तुझसे कहता हूँ कि उसे समझ ले । शिष्य बुद्धि को समाहित करने के लिए यमाचार्य के ये वाक्य हैं । अब अग्नि की स्तुति करते हैं । स्वर्गलोक में आपेक्षिक अनन्तता हैं, ऐसे आपेक्षिक अनन्त स्वर्गलोक रूप फल की प्राप्ति का साधन एवं विराट्‌रूप से जगत् का आश्रय मेरे द्वारा कहा गया अग्नि है, उसे तुम बुद्धिमान् पुरुषों की बुद्धि में स्थित जानो ॥१४॥

---

१. नचिकेतसा प्रार्थितमिति—स्वर्ग्यमित्यर्थः । २. चेतव्याः स्वरूपेणेति—द्रोणरथचक्रादिस्वरूपेणोपधातव्या इत्यर्थः । तथा च का. श्रौ. सू. एतया त्रिकृत्याभिमन्त्र्यैकेऽन्यर्वितं चिन्वन्ति द्रोणचिद्रथचक्रचिदित्यादि । यद्वा स्वरूपेण तिर्यगूर्ध्वादिपरिमाणभेदेन चेतव्या इष्टका या यादृशीरित्यर्थः । ३. चयनप्रकरणादिति—शतपथादिब्राह्मणग्रन्थस्थात् कात्यायनादिमहर्षिप्रोक्तश्रौतसूत्रादिगताच्चेत्यर्थः ।

तमब्रवीत्प्रीयमाणो महात्मा वरं तवेहाद्य
ददामि भूयः । तवैव नाम्ना भविताऽयमग्निः
सृङ्कां चेमामनेकरूपां गृहाण ॥१६॥

महात्मा (यमराज) ने प्रसन्न हो कर उस नचिकेता से कहा—अब मैं तुझे एक वरदान और भी देता हूँ, यह अग्नि (लोक में अब) तेरे ही नाम से प्रसिद्ध होगा और तू इस अनेकरूपमयी माला को ग्रहण कर ॥१६॥

यावतीर्वा संख्यया । यथा वा चीयतेऽग्निर्येन प्रकारेण सर्वमेतदुक्तवानित्यर्थः । स चापि नचिकेतास्तन्मृत्युनोक्तं यथावत्प्रत्ययेनावदत्प्रत्युच्चारितवान् । अथास्य प्रत्युच्चारणेन तुष्टः सन्मृत्युः पुनरेवाऽऽह वरत्रयव्यतिरेकेणान्यं वरं दित्सुः ॥१५॥

कथं ? तं नचिकेतसमब्रवीत्प्रीयमाणः शिष्ययोग्यतां पश्यन्प्रीयमाणः प्रीतिमनुभवन्महात्माऽक्षुद्रबुद्धिर्वरं तव चतुर्थमिह प्रीतिनिमित्तमद्येदानीं ददामि भूयः पुनः प्रयच्छामि ।

॥१६॥

श्रुति का यह वचन है जिसके लिए नचिकेता ने प्रार्थना की थी और जिसका प्रकरण चल रहा है, उसे प्रथम शरीरी होने के कारण उस अग्नि को यमाचार्य ने नचिकेता से कह दिया। इतना ही नहीं जैसा उसका स्वरूप है, जितनी संख्या में जितनी ईंटों के चयन का विधान है और जैसे अग्नि चयन किया जाता है। उन सभी रहस्यों को यमाचार्य ने नचिकेता से कह डाला और जिस प्रकार नचिकेता से यमाचार्य ने कहा था, उसे सम्यक् प्रकार अवगत कर लेने के कारण मेधावी नचिकेता ने ज्यों का त्यों सुना दिया। तत्पश्चात् उस नचिकेता के प्रत्युच्चारण से प्रसन्न हो यम ने इन तीन वरों के अतिरिक्त वर देने की इच्छा से नचिकेता के प्रति फिर से कहा ॥१५॥

कैसे कहा ? इसी को बतलाते हैं—अपने शिष्य की योग्यता को देख प्रसन्नता का अनुभव

---

१. पितुः सौमनस्यं पितुरेव फलं किं तत्र नचिकेतस इति निगूढतरमाशयान्तः स्वयं वितीर्णवरसंख्यां पूरयितुकामो धर्मराडाह—वरं तवेहाद्य ददामि भूय इति । न चैतावता प्रीयमाणत्वस्यात्र प्रतीयमानं कारणत्वं विहन्यते तस्य परम्परया कारणत्वात् । तत्प्रयुक्त एव हि यथोक्तः कामः तत्प्रयुक्तं चेदमित्यवधेयम् । २. चीयते—आधीयते वेद्यां संस्थाप्यत इति यावत् । ३. प्रत्ययेन—सनिश्चयमिति यावत् । प्रत्ययेनावददित्यस्य स्थाने प्रत्यवददित्येव लिखितपुस्तके पाठः स एव च श्रेयान्मूलानुरोधित्वात् । ४. प्रीयमाणत्वे हेतुर्महात्मेति तद्व्याचष्टे—अक्षुद्रबुद्धिरिति । हेतुरिति हेत्वन्तरमित्यर्थः । शिष्ययोग्यतादर्शनस्यापि हेतुत्वात् । क्षुद्रबुद्धिर्हि परकीयं प्रज्ञाद्युत्कर्षं पश्यन्नीर्ष्यया कलुषीभवति । अक्षुद्रधीस्तु प्रीयत एवेति भावः । क्षुद्रः स्यादधमक्रूर-कृपणाल्पेषु वाच्यवदिति विश्वः ।

त्रिणाचिकेतस्त्रिभिरेत्य संधिं त्रिकर्मकृत्तरति
जन्ममृत्यू । ब्रह्मजज्ञं देवमीड्यं विदित्वा
निचाय्येमाँ शान्तिमत्यन्तमेति ॥१७॥

नाचिकेत अग्नि का तीन बार चयन करने वाला मनुष्य (उसका विज्ञान, अध्ययन और अनुष्ठान करने वाला, या माता, पिता एवं आचार्य) इन तीनों से सम्बन्ध को प्राप्त कर जन्म तथा मृत्यु को पार कर जाता है, एवं ब्रह्म से उत्पन्न हुए, ज्ञानवान् और स्तुति के योग्य देव को (शास्त्र से जान कर तथा आत्मभावेन) उसे अनुभव कर इस प्रत्यक्ष आत्यन्तिक शान्ति को प्राप्त करता हैं ॥१७॥

तवैव नचिकेतसो नाम्नाऽभिधानेन प्रसिद्धो भविता मयोच्यमानोऽयमग्निः । किञ्च सृङ्कां [1]शब्दवतीं [2]रत्नमयीं [3]मालामिमामनेकरूपां विचित्रां गृहाण स्वीकुरु । [4]यद्वा सृङ्कामकुत्सितां गतिं कर्ममयीं गृहाण । अन्यदपि कर्मविज्ञानमनेकफलहेतुत्वात्स्वीकुर्वित्यर्थः ॥१६॥

पुनरपि कर्मस्तुतिमेवाऽऽह—

त्रिणाचिकेतस्त्रिः[5]कृत्वो नाचिकेतोऽग्निश्चितो येन स त्रिणाचिकेतस्त[6]द्विज्ञानस्तद-

---

करते हुए विशाल बुद्धि महात्मा यम ने नचिकेता से कहा कि इस समय मैं प्रसन्नता के कारण तुझे फिर चौथा अन्य वर देता हूँ । मेरे द्वारा कहा गया यह अग्नि तुझ नचिकेता के नाम से ही प्रसिद्ध होगा। इतना ही नहीं बल्कि शब्द करने वाली अनेक विचित्र वर्ण वाली रत्नमयी माला को भी स्वीकार कर अथवा कर्ममयी अनिन्दिता गति को भी सृंका कहते हैं, इसे तू स्वीकार कर अर्थात् इसके सिवा अनेक फल का कारण होने से तू मेरे द्वारा कर्म विज्ञान को और भी स्वीकार कर ॥१६॥

---

१. "तद्यथाऽनः सुसमाहितमुत्सर्जद्यायादेवमेवायं शारीर आत्मा प्राज्ञेनात्मनाऽन्वारूढमुत्सर्जन्याति यत्रैतदूर्ध्वोच्छ्वासी भवति"(बृ. ४-३-३५)इति श्रुतौ सृजिधातोः शब्दार्थकत्वप्रसिद्धिमाश्रित्य व्याचष्टे—शब्दवतीमिति । २. रत्नमयीमिति—वक्ष्यति हि यमराजो नैतां सृङ्कां वित्तमयीमिति । ३. सृजिधातुनिष्पन्नस्रक्छब्दस्य मालावाचित्वप्रसिद्धिमनुरुध्याह—मालामिति । ४. सृ[illegible] गता[illegible]वित्यस्मात् सृङ्काशब्दनिष्पत्तिमभिप्रेत्याह—यद्वा सृङ्कामकुत्सितामिति । अकुत्सितत्वं प्रकरणानुरोधादुक्तम् । तत्त्वदृष्टया तु स त्वं प्रियानित्यादिवाक्यभाष्ये कुत्सितामिति वक्ष्यतीत्यवधेयम् । ५. त्रिणाचिकेत इत्यत्र पूर्वपदात्संज्ञायामग इति णत्वं छान्दसं वेत्याशयेन व्याचष्टे—त्रिःकृत्व इति । अत्र कृत्व इत्यधिकं द्वित्रिचतुर्भ्यः सुच् इति हि संख्यायाः क्रियाभ्यावृत्तिगणने कृत्वसुजित्यस्यापवादः । किंच नैकार्थकं प्रत्ययद्वयमेकस्याः प्रकृतेः युगपत् प्रयोगमर्हति । तस्माल्लेखकप्रमादोऽयं कृत्वेति क्त्वान्तो वा पाठः कथंचित्संगच्छमानोऽन्यथाकृत इति प्रतिपद्ये । ६. तद्विज्ञानस्तदध्ययन इत्युभयत्र मतुबन्त एव पाठो लिखितपुस्तके दृश्यते । विज्ञानमुपास्तिः शास्त्रोत्थमात्रमेव वा । अध्ययनं तत्प्रतिपादकस्य वेदादेः । अनुष्ठानं चयनम् ।

ध्ययनस्तदनुष्ठानवान्वा । त्रिभिर्मातृपित्राचार्यैरेत्य प्राप्य संधिं संधानं सम्बन्धं मात्राद्यनुशासनं यथावत्प्राप्येत्येतत् । तद्धि प्रामाण्यकारणं श्रुत्यन्तरादवगम्यते । "यथा मातृमान्पितृमान्" (बृ. ४. १. २) इत्यादेः । वेदस्मृतिशिष्टैर्वा प्रत्यक्षानुमानागमैर्वा । तेभ्यो हि विशुद्धिः प्रत्यक्षा । त्रिकर्मकृदिज्याध्ययनदानानां कर्ता तरत्यतिक्रामति जन्ममृत्यू । किञ्च ब्रह्मजज्ञं ब्रह्मणो हिरण्यगर्भाज्जातो ब्रह्मजः । ब्रह्मजश्चासौ ज्ञश्चेति ब्रह्मजज्ञः सर्वज्ञो ह्यसौ । तं देवं द्योतनाज्ज्ञानादिगुणवन्तमीड्यं स्तुत्यं विदित्वा गृहीत्वा शास्त्रतो निचाय्य दृष्ट्वा चाऽऽत्मभावेनेमां स्वबुद्धिप्रत्यक्षां शान्तिमुपरतिमत्यन्तमेत्यतिशयेनैति । वैराजं पदं ज्ञानकर्मसमुच्चयानुष्ठानेन प्राप्नोतीत्यर्थः ॥१७॥

विशुद्धिरिति धर्माद्यवगतिः । दृष्ट्वा चाऽऽत्मभावेनेति । अयमर्थः । विंशत्यधिकानि सप्तशतानीष्टकानां संख्या संवत्सरस्याहोरात्राणि च तावत्संख्यकान्येव संख्यासामान्यात्तैरिष्टकास्थानीयैश्चितोऽग्निरहमित्यात्मभावेन ध्यात्वेति ॥१७॥

नाचिकेत अग्नि चयन करने का फल

यमाचार्य फिर भी कर्म की स्तुति ही करते हैं। तीन बार नाचिकेत अग्नि चयन करने वाले को त्रिणाचिकेत कहते हैं अथवा उसका ज्ञान, अध्ययन एवं अनुष्ठान करने वाला त्रिणाचिकेत कहलाता है। वह त्रिणाचिकेत पुरुष माता, पिता एवं आचार्य इन तीनों से सम्बन्ध प्राप्त कर अर्थात् माता का प्यार, पिता की शिक्षा एवं आचार्य का अनुशासन प्राप्त कर पूर्ण योग्य हो जाता है क्योंकि एक दूसरी श्रुति से भी जाना जाता है कि "माता, पिता और आचार्य से शिक्षा प्राप्त पुरुष बोले"। इन तीनों की शिक्षा ही धर्मज्ञान की प्रामाणिकता में कारण मानी गयी है अथवा श्रुति-स्मृति एवं शिष्ट पुरुषों से या प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम से सम्बन्ध प्राप्त कर यज्ञ, अध्ययन और दान इन तीनों कर्मों को करने वाला पुरुष जन्म और मृत्यु को पार कर जाता है। क्योंकि उन वेदादि प्रमाणों से अथवा प्रत्यक्षादि प्रमाणों से प्रत्यक्ष शुद्धि होती देखी जाती है।

ब्रह्मा यानी हिरण्यगर्भ से उत्पन्न हुए को ब्रह्मज कहते हैं। इस प्रकार जो ब्रह्मज हो और उसको जानता भी हो, उसीको ब्रह्मजज्ञ कहते हैं, क्योंकि वह सर्वज्ञ है। द्योतन आदि के कारण उसे देव कहते हैं और ज्ञानादि गुणों से युक्त होने के कारण उसे स्तुति योग्य भी कहते हैं ऐसे देव को शास्त्र से जानकर तत्पश्चात् आत्मभावेन साक्षात्कार कर अपनी बुद्धि से प्रत्यक्ष होने योग्य इस आत्यन्तिक शान्ति को

---

१. मातृपित्राचार्यैरिति—त्रिपदद्वन्द्वे पितुर्नानङ् आचार्यस्यानृदन्तत्वान्मातुर्नानङ् पितुरनुत्तरपदत्वात् आनङ् ऋतो द्वन्द्वे इत्यत्र हि ऋदन्तानामेव द्वन्द्वे उत्तरपदे एवेति व्याख्यानात्। २. पूर्वार्धेन सफलं कर्मोक्त्वोत्तरार्धेन सफलमुपासनमुच्यत इत्याशयेनाह—किंचेति। ३. ज्ञानादिगुणवन्तमिति—हेतुगर्भितं विशेषणं ज्ञानादिगुणवत्त्वादीड्यमित्यर्थः। ४. इमामितीदं शब्दस्वारस्येनाह—स्वबुद्धिप्रत्यक्षामिति। ननूपरतिरिह वैराजं पदमिति वक्ष्यमाणभाष्यानुरोधाद्वैराजं सुखमेव विवक्षितं तस्य च विराड्बुद्ध्येकगम्यत्वात्स्वबुद्धिप्रत्यक्षामिति कुत इति चेद्देवतात्वेन सर्वज्ञत्वाद्विराडभेदं वा संपाद्य संभवादित्यवधेयम्। ५. उपरतिम्—सुखविशेषमिति यावत्। ६. अहोरात्राणीति—"रात्राह्नाहाः पुंसी"त्यनादरात्।

त्रिणाचिकेतस्त्रयमेतद्विदित्वा य एवं विद्वाꣳश्चिनुते नाचिकेतम् । स मृत्युपाशान्पुरतःप्रणोद्य शोकातिगो मोदते स्वर्गलोके ॥१८॥

एष तेऽग्निर्नचिकेतः स्वर्ग्यो यमवृणीथा द्वितीयेन

जो त्रिणाचिकेत विद्वान है, (वह) अग्नि के इस त्रय को (अर्थात् ईंटें कौन हैं, कितनी संख्या में हैं और किस प्रकार अग्नि का चयन किया जाय, इसे) जानकर नाचिकेत अग्नि का चयन करता है, वह देहपात से पहले मृत्यु के बन्धन (अधम, अज्ञान, राग-द्वेषादि) को नष्ट कर शोक से पार हो स्वर्गलोक में आनन्दित होता है ।।१८।।

हे नचिकेता ! तूने जिसे द्वितीय वर से वरण किया था, वह यह स्वर्ग का साधनभूत अग्नि

इदानीमग्निविज्ञानचयनफलमुपसंहरति प्रकरणं च—

त्रिणाचिकेतस्त्रयं यथोक्तं या इष्टका यावतीर्वा यथा वेत्येतद्विदित्वाऽवगम्य यश्चैवमात्मरूपेणाग्निं विद्वांश्चिनुते निर्वर्तयति नाचिकेतमग्निं क्रतुं स मृत्युपाशानधर्माज्ञानरागद्वेषादिलक्षणान्पुरतोऽग्रतः पूर्वमेव शरीरपातादित्यर्थः । प्रणोद्यापहाय शोकातिगो मानसैर्दुःखैर्वर्जित इत्येतत् । मोदते स्वर्गलोके वैराजे विराडात्मस्वरूपप्रतिपत्त्या ॥१८॥

एष ते तुभ्यमग्निर्वरो हे नचिकेतः स्वर्ग्यो यमग्निं वरमवृणीथाः प्रार्थितवानसि

॥१८॥

प्राप्त कर लेता है । तात्पर्य यह है कि उपासना और कर्म के समुच्चय अनुष्ठान से वह साधक वैराग्य पद को प्राप्त कर लेता है ।।१७।।

अब अग्नि विज्ञान एवं उसके अनुष्ठान के फल का तथा इस प्रसग का उपसंहार करते हैं ।

इस नाचिकेत अग्नि के चयन में जो ईंटें होनी चाहिए, जितनी संख्या में होनी चाहिए और जसे इस अग्नि का अनुष्ठान करना चाहिये; इन तीनों पूर्वोक्त बातों को सम्यक् जानकर उस अग्नि को आत्मस्वरूप से जानने वाला जो विद्वान् उपासनीय अग्नि का चयन करता है, वह साधक देहपात से पूर्व ही अधर्म, अज्ञान एवं राग-द्वेषादिरूप मृत्यु के बन्धनों को त्यागकर मानसिक दुःखों से मुक्त हुआ स्वर्ग में यानी वैराज लोक में आनन्दित होता है; क्योंकि उसे विराडात्मा की प्राप्ति हो चुकी ।।१८।।

---

१. विज्ञानचयनेति—उपास्तिकर्मणोरित्यर्थः । २. प्रकरणमिति—स्वर्ग्याग्निप्रकरणमित्यर्थः । कर्मोपास्तिसमुच्चयप्रकरणमिति यावत् । ३. त्रिणाचिकेत इति—पूर्वकृतव्याख्यानमिति नेह व्याख्यायते परं तद्विज्ञान इत्यादि द्वितीयव्याख्यानमेवेहोपयुक्तं चिनुत इत्युच्यमानचयनस्य चतुर्थत्वापत्तिर्मा भूदितीत्यवधेयम् । ४. विद्वानुपासीनः । ५. वरो—वरविषयः ।

वरेण । [1]एतमग्निं तवैव प्रवक्ष्यन्ति जनासस्तृतीयं

वरं नचिकेतो वृणीष्व ॥१६॥

तुझे बतला दिया गया। अब लोग इस अग्नि को तेरे नाम से ही कहेंगे। अतः हे नचिकेता ! अब तू तीसरा वर माँग ले (क्योंकि इसे दिये बिना मैं तेरा ऋणी हूँ) ॥१६॥

द्वितीयेन वरेण सोऽग्निर्वरो दत्त इत्युक्तोपसंहारः। [2]किंचैतमग्निं तवैव नाम्ना प्रवक्ष्यन्ति [3]जनासो जना इत्येतदेष वरो दत्तो मया चतुर्थस्तुष्टेन। तृतीयं वरं नचिकेतो वृणीष्व। तस्मिन्ह्यदत्त ऋणवानहमित्यभिप्रायः ॥१६॥

एतावद्ध्य[4]तिक्रान्तेन विधिप्रतिषेधार्थेन [5]मन्त्रब्राह्मणेनावगन्तव्यं यद्वरद्वयसूचितं वस्तु नाऽऽत्मतत्त्वविषयं याथात्म्य[6]विज्ञानम्। [7]अतो [8]विधिप्रतिषेधार्थविषयस्याऽऽत्मनि क्रिया-

---

॥१६॥

[9]पितापुत्रस्नेहादिस्वर्गलोकावसानं यद्वरद्वयसूचितं संसाररूपं तदेव कर्मकाण्डप्रतिपाद्यमात्मन्यारोपितं तन्निवर्तकं चाऽऽत्मज्ञानमित्यध्यारोपापवाद[10]भावेन [11]पूर्वोत्तरग्रन्थयोः संबन्धमाह—एतावद्धीति।

हे नचिकेता ! तूने अपने दूसरे वर से जिस अग्नि का वरण किया था अर्थात् जिसके लिये तूने प्रार्थना की थी, उस स्वर्ग की प्राप्ति के साधनभूत इस अग्निविज्ञान रूप वर को मैंने तुझे दे दिया। इस प्रकार पूर्वोक्त अग्निविज्ञान का उपहार कर दिया गया। इतना ही नहीं अपितु अब लाग इस अग्नि को तेरे ही नाम से पुकारेंगे। यह चतुर्थ वरदान भी मैंने प्रसन्न होकर तुझे दिया था। हे नचिकेता ! अब इसके आगे तू तीसरा वर माँग ले क्योंकि उसे दिये बिना मैं तुम्हारा ऋणी बना रहूँगा, यह इसका अभिप्राय है ॥१६॥

जिसका प्रयोजन विधि और निषेध है ऐसे अर्थ के प्रतिपादक पूर्वोक्त मन्त्र ब्राह्मण द्वारा इन दो वरों से सूचित ज्ञातव्य वस्तु इतनी ही है अर्थात् ऐहिक और आमुष्मिक अर्थ प्राप्ति के साधन के रूप में इन दो वरों से नचिकेता ने माँगा। इनका प्रतिपाद्य विषय आत्मतत्त्व विषयक यथार्थ ज्ञान नहीं

---

१. प्रसादात् प्रत्तमनुवदति-एतमग्निमिति। सृङ्कां तु नाङ्गीकृतवान्नचिकेता इत्यनेन सूच्यते। वक्ष्यति च नैतां सृङ्कां वित्तमयीमवाप्त इतीत्यवधेयम्। २. अग्निर्वर इति पुनर्ग्रहणं दत्त इत्यन्वयार्थम्। ३. जनास इत्यत्र आज्जसेरसुगित्यनेन च्छन्दसिजसोऽसुगागम इत्याशयेन तदर्थकं लौकिकं पदमर्पयति जना इति। ४. अतिक्रान्तेनेति-पूर्वकाण्डाभिधानेनेति यावत्। ५. मन्त्रब्राह्मणेनेति—तदाख्येन वेदेनेत्यर्थः। ६. विज्ञानमिति—न च तद्याथात्म्यविज्ञानमन्तरेण कृतकृत्यत्वलाभ इति शेषः। ७. कथमात्मज्ञानस्य कृतकृत्यत्वलम्भकत्वं तत्राह-अत इत्यादि। अखिलानर्थहेतोरज्ञानस्य निवृत्तिद्वारेति भावः। ८. विधिप्रतिषेधार्थविषयस्येति—पूर्वकाण्डप्रतिपाद्यस्येति यावत्। "त्रैगुण्यविषया वेदा" इति भगवदुक्तेरिति भावः। ९. पितापुत्रेति—"आनङ्ऋतो द्वन्द्वे" इत्यत्र पुत्रेऽन्यतरस्यामित्यतो मण्डूकप्लुत्या पुत्र इत्यनुवृत्तेरानङ्। १०. भावेनसंबन्धमिति तदात्मकं संबन्धमित्यर्थः। तत्प्रयुक्तं वा नियमेनाव्यवहितपूर्वोत्तरवृत्तित्वरूपसम्बन्धमिति। ११. पूर्वोत्तरग्रन्थयोरिति काण्डयोरप्युपलक्षणम्।

[1]येयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्येऽस्तीत्येके नायमस्तीति चैके । एतद्विद्यामनुशिष्टस्त्वयाऽहं वराणामेष वरस्तृतीयः ॥२०॥

मरे हुए मनुष्य के विषय में जो यह संशय होता है, कुछ लोग (जीव का) अस्तित्व मानते हैं और कुछ लोग नहीं मानते हैं। आपसे शिक्षित हुआ मैं इसे जानूँ, बस। वरों में से यही मेरा तीसरा वर है ॥२०॥

कारकफलाद्यध्यारोपणलक्षणस्य [2]स्वाभाविकस्याज्ञानस्य संसारबीजस्य निवृत्त्यर्थं तद्विपरीतब्रह्मात्मैकत्वविज्ञानं क्रियाकारकफला[3]ध्यारोपणलक्षणशून्यमा[4]त्यन्तिकनिःश्रेयसप्रयोजनं वक्तव्यमित्युत्तरो ग्रन्थ आरभ्यते। [5]तमेतमर्थं द्वितीयवरप्राप्त्याऽप्यकृतार्थत्वं तृतीयवरगोचरमात्मज्ञानमन्तरेणेत्याख्यायिकया [6]प्रपञ्चयति—

यतः पूर्वस्मात्कर्मगोचरात्[7]साध्यसाधनलक्षणादनित्याद्वि[8]रक्तस्याऽऽत्मज्ञानेऽधिकार इति

प्रथमवल्लीसमाप्तिपर्यन्ताख्यायिकाया [9]अवान्तरसंबन्धमाऽऽह–तमेतमर्थमिति। देह[10]व्यतिरिक्तात्मास्तित्वे

है। अतः विधि और निषेध के विषय जो भी क्रिया, कारक और फलरूप विषय हैं, वे आत्मा में अध्यारोपित हैं, ये संसार के बीजभूत हैं। उस स्वाभाविक अज्ञान की निवृत्ति के लिये उससे विपरीत ब्रह्म और आत्मा की एकता का ज्ञान अब इससे आगे कहना है। क्रिया, कारक और फल के अध्यारोपरूप

---

१. कर्मोपास्त्यनुष्ठानाद्विशुद्धान्तःकरणस्य स्वयमात्मजिज्ञासा प्रवर्तत इति सूचयञ्शिष्योक्तिमाह—येयमिति। ननु तयोः श्रवणादेवात्रेयं प्रवर्तमानावलोक्यते नानुष्ठानादिति चेन्न, भूयस्या हि श्रद्धया श्रवणमपि क्वचिदधिकारिण्यनुष्ठानायते। तथा च स्मर्यते—"अधिगच्छति शास्त्रार्थः स्मरति श्रद्दधाति च। यत्कृपावशतस्तस्मै नमोऽस्तु गुरवे सदे"ति। नन्वत्र गुरुकृपावशादेव शास्त्राऽभ्यागमाद्युक्तं न श्रद्धया श्रवणादिति चेत्सत्यं गुरुकृपा तु श्रद्धां कटाक्षयत्येव। श्रद्दधानाय मह्यमिति चात्राप्यस्त्येव सेति विज्ञेयम्। २. स्वाभाविकस्येति—स्वभावोऽनादिरविद्या तत्कार्यस्येत्यर्थः। ३. अध्यारोपणलक्षणशून्यमिति—अतद्वति तत्प्रकारकत्वमध्यारोपणलक्षणं तद्रहितमित्यर्थः। ४. ननु निवृत्तेरभावतया सुखरूपत्वाभावान्न ततः कृतकृत्यत्वं यावत्सुखं हि यतते पुमानत आह—आत्यन्तिकनिःश्रेयसप्रयोजनमिति। निश्चितं श्रेयो निःश्रेयसम्। अचतुरविचतुरेत्यादिना समासान्तोऽच्। स्वर्गादिव्यवच्छेदायात्यन्तिकेति। ५. उक्तेऽर्थेऽवशिष्टाख्यायिकाभागं प्रमाणयन्नाह—तमेतमर्थमिति, तम्—एतावदित्याद्यारभ्यत इत्यन्तभाष्येणोक्तम्। एतम्—द्वितीयेत्यादीत्यन्तभाष्येणानुपदमुच्यमानम्। एतच्छब्दार्थं व्यनक्ति—द्वितीयेति। एतावदित्यादिभाष्योक्तस्यैवायं संक्षेप इति तमेतमिति सामानाधिकरण्यं निर्वहतीत्यवधेयम्। ६. प्रपञ्चयतीति—व्यनक्तीत्यर्थः। पचिव्यक्तीकरण इति स्मरणात्। ७. साध्यसाधनलक्षणादिति—हेतुफलभावेन भासमानादैहिकामुष्मिकफलभोगादिति यावत्। ८. विरक्तस्येत्यादि—"त्यागेनैके" इत्यादि श्रुतेरिति भावः। ९. अवान्तरेति—अपवादोत्थापकत्वेन तदुपोद्घाततया तदन्तःपातित्वात्स एव महासम्बन्धः, अवान्तरस्तु कृतार्थत्वसंपादकत्वाभावविशिष्टतया व्यञ्जकत्वं पूर्वेण। तच्च ज्ञानयोर्हेतुहेतुमद्भावः, परम्परया ग्रन्थयोः पर्यवस्यतीत्यवधेयम्। १०. आत्मन आगमैकवेद्यत्वस्थापनाय शङ्कयति—देहव्यतिरिक्तेत्यादिना।

[1]तन्निन्दार्थं [2]पुत्राद्युपन्यासेन प्रलोभनं क्रियते । [3]नचिकेता उवाच तृतीयं वरं नचिकेतो वृणीष्वेत्युक्तः सन् । येयं विचिकित्सा [4]संशयः प्रेते [5]मृते मनुष्येऽ[6]स्तीत्येकेऽस्ति शरीरेन्द्रिय-मनोबुद्धिव्यतिरिक्तो देहान्तरसम्बन्ध्यात्मेत्येके[7] नायमस्तीति चैके नायमेवंविधोऽस्तीति चै[8]केऽतश्चास्माकं न प्रत्यक्षेण नापि वाऽनुमानेन निर्णयविज्ञानमे[9]तद्विज्ञानाधीनो हि [10]परः

[11]वादिविप्रतिपत्तेः संशयश्चेत्तर्हि [12]प्रत्यक्षादिना [13]स्वस्यैव निर्णयज्ञानसम्भवात्तन्निर्णयस्य [14]निष्प्रयो-जनत्वाच्च न तदर्थः प्रश्नः कर्तव्य इत्याशङ्क्याऽऽह—अतश्चास्माकमिति । प्रत्यक्षेण स्थाणौ निर्णीते पुरुषो

लक्षण से सर्वथा शून्य एवं आत्यन्तिक निःश्रेयस जिस ज्ञान का प्रयोजन है, उसी को बतलाने के लिये आगे का ग्रन्थ प्रारम्भ किया जा रहा है। इसी बात को आख्यायिका द्वारा विस्तार से बतलाना अभीष्ट है; क्योंकि तीसरे वर से प्राप्त होने वाले आत्मज्ञान के बिना पूर्वोक्त दो वरों से प्राप्त ऐहिक तथा पारलौकिक भोग से भी कोई कृत्यकृत्य नहीं हो सकता है, साथ ही पूर्वोक्त कर्म विषयक साध्य-साधन रूप तथा अनित्य संसार फलों से जो विरक्त हो गया है, ऐसे मुमुक्षु का ही आत्मज्ञान में अधि-कार माना गया है। अतः उनकी निन्दा करने के लिये पुत्रादि के उपन्यासपूर्वक नचिकेता को प्रलो-भन दिया जा रहा है।

जब यमाचार्य ने कहा कि हे नचिकेता! तू तीसरा वर माँग ले, इस पर नचिकेता ने कहा—

नचिकेता का तीसरा वर आत्म रहस्य

मरे हुये मनुष्य के सम्बन्ध में जो यह संशय होता है कि शरीर, इन्द्रिय, मन और बुद्धि से भिन्न देहान्तर से सम्बन्ध रखने वाला आत्मा बना रहता है, ऐसा कुछ लोग कहते हैं। इनसे विपरीत दूसरों का कथन है कि शरीर के मर जाने पर इस तरह का कोई आत्मा रह नहीं जाता, ऐसी स्थिति

१. तान्निन्दार्थं प्रलोभनमिति—प्रलोभनमुखेन तत्र जिहासाविषयत्वापादनात्तन्निन्दा फलतीति भावः । श्वोभावा मर्त्यस्येत्यादिश्च स्फुटैव निन्दा । २. पुत्राद्युपन्यासेनेति—शतायुषः पुत्रपौत्रान् वृणीष्वेत्याद्यात्मकेनेत्यर्थः । ३. नचिकेता उवाचेति—परलोकसम्बन्ध्यात्मास्तित्वे संशयादेव नूनं पित्रा पारलौकिके कर्मणि च्छलं प्रायोजीति तत्संशयापाकरणाय मया प्रयतितव्यमित्याशयवानित्यादिः । ४. संशय इति—देहातिरिक्तस्तदनतिरिक्तो वाऽऽत्मेति संशयाकारो द्रष्टव्यः । एकधर्मिकविरुद्धभावाभावप्रकारकज्ञानस्यैव संशयत्वात् । ५. प्रेत इति विषयसप्तमीत्याशयेनाचष्टे—मृते मनुष्य इति । केचित्सतिसप्तमीं व्याचख्युः नायमस्तीत्ययंशब्देन प्रेतपरामर्शा-द्विषयसप्तमीं युक्तां पश्यामः । ६. संशयोत्पादिकां वादिविप्रतिपत्तिं दर्शयति—अस्तीत्येक इति । ननु वादिविप्रतिपत्तेः प्रेताप्रेतसाधारणत्वेन तज्जसंशयस्यापि तथात्वौचित्यात्प्रेते संशय इत्ययुक्तमिति चेन्न; देहान्तर-सम्बन्धासम्बन्धयोः प्रेत एव स्फुटोपस्थितिकत्वात्प्रेतग्रहणस्य युक्तत्वात् । किञ्च नायमस्तीत्येवमिदंतया निर्देशसौलभ्यायापि प्रेत इत्यावश्यकमिति द्रष्टव्यम् । ७. एके—वैदिकाः । ८. पुनरेके—नास्तिकाश्चा-र्वाकादयः । ९. मुक्तेरात्मज्ञानफलत्वं श्रुतवानाह—एतद्विज्ञानाधीनो हि परः पुरुषार्थ इति । १०. परः पुरुषार्थः—कृतार्थत्वम् । ११. वादिविप्रतिपत्तेरिति—वादिनां वैदिकावैदिकानां विप्रतिपत्तिर्विरुद्धकोटि-द्वयोपस्थापकशब्दो विरुद्धार्थप्रतिपादकवाक्यद्वयात्मकस्तस्या इत्यर्थः । १२. प्रत्यक्षादिनेत्यादिनाऽनुमानं गृह्यते । स्थाण्वादौ हि संशये सति प्रत्यक्षादिना निर्णयदर्शनादिति भावः । १३. स्वस्यैवेत्याचार्यापेक्षां वारयति । १४. तद्विज्ञानाधीनो हि परः पुरुषार्थ इति भाष्यमनुसंधाय शङ्कां पुष्णाति—निष्प्रयोजनत्वाच्चेति ।

विक्रियास्तासामाद्यन्ते जन्मविनाशलक्षणे विक्रिये इहाऽऽत्मनि प्रतिषिध्येते प्रथमं सर्वविक्रियाप्रतिषेधार्थं न जायते म्रियते वेति । विपश्चिन्मेधावी, अविपरिलुप्तचैतन्यस्वभावत्वात् । किंच नायमात्मा कुतश्चित्कारणान्तराद्बभूव । स्वस्माच्चाऽऽत्मनो न बभूव कश्चिदर्थान्तरभूतः । अतोऽयमात्माऽजो नित्यः शाश्वतोऽपक्षयविवर्जितः । यो ह्यशाश्वतः सोऽपक्षीयते । अयं तु शाश्वतोऽत एव पुराणः पुराऽपि नव एवेति । यो ह्यवयवोपचयद्वारेणाभिनिर्वर्त्यते स इदानीं नवो यथा कुम्भादिस्तद्विपरीतस्त्वात्मा पुराणो वृद्धिविवर्जित इत्यर्थः । यत एवमतो न हन्यते न हिंस्यते हन्यमाने शस्त्रादिभिः शरीरे । तत्स्थोऽप्याकाशवदेव ॥१८॥

भावादप्राप्तनिषेधः स्यादतो जन्मादिप्रतिषेधेन ब्रह्मोपदिशन्नात्मस्वरूपमेवोपदिशतीति गम्यते । मरणनिमित्ता च नास्तित्वाशङ्काऽऽत्मनो मरणाभावेऽस्तित्वविषयप्रश्नस्याप्येतदेव वचनं भवतीति द्रष्टव्यम् ॥१८॥

अनेक विकार होते हैं, उन विकारों में से आत्मा के जन्मरूप आदि विकार और विनाशरूप अन्तिम विकार यहाँ पर आत्मा में निषेध किया जाता है; क्योंकि आदि तथा अन्त विकार के निषेध कर देने पर मध्यवर्ती विकारों का निषेध सुतरां हो जाता है। यह आत्मा कभी भी लुप्त न होने वाले चैतन्य स्वभाव होने के कारण विपश्चित् अर्थात् मेधावी है। (लोक में कभी-कभी कारण से कार्य की उत्पत्ति देखी जाती है और कभी कारण ही कार्यरूप में परिणत होता देखा गया है) किन्तु यह आत्मा किसी अन्य कारण से उत्पन्न नहीं हुआ और न स्वयं ही अर्थान्तररूप से परिणत हुआ है। इसलिये यह आत्मा अजन्मा, नित्य और क्षयरहित शाश्वत है क्योंकि जो अशाश्वत पदार्थ है; वह क्षीण हो जाता है। यह आत्मा तो शाश्वत है। अतएव पुराण भी है अर्थात् प्राचीन होता हुआ भी सदा नवीन है क्योंकि जो पदार्थ अवयवों की वृद्धि से निष्पन्न होता है, वह घटादि के समान इस समय नया है। ऐसा कहा जाता है, पर आत्मा उससे विपरीत स्वभाव वाला है अर्थात् वृद्धिरहित पुराना है। जबकि ऐसा है, इसीलिये शस्त्रादिकों से शरीर के मारे जाने पर भी वह मरता नहीं। तात्पर्य यह है कि शरीर में रहता हुआ भी यह आत्मा आकाश के समान असङ्ग और निर्लिप्त है ॥१८॥

---

१. सर्वविक्रियाप्रतिषेधार्थमिति—अनेन स्फुटतरनिषेधेन कथं शाश्वतादिपदैस्तत्तद्विक्रियाप्रतिषेधाः प्रतीयेरन्नित्येतदर्थमिति यावत् । २. यद्वाऽऽद्यन्तनिषेधस्य सर्वनिषेधार्थत्वं भासयितुं द्वावितरौ कण्ठोक्त्या प्रतिषिध्येते इत्याशयेनाह—शाश्वत इत्यादि । ३. अपक्षीयत इति—विपरिणम्येत्यादिः । तथा च शाश्वतपदेन विपरिणामापक्षयौ प्रतिषिद्धौ वेदितव्यौ । ४. वृद्धीति—जन्मानन्तरभाव्यस्तित्वविकारपूर्वकेत्यादिः । एवं पुराणत्वेन द्वौ गतौ भवतः । ५. ब्रह्मोपदिशन्निति—अन्यत्रेत्यादिना ब्रह्मण एव जिज्ञासितत्वादिति भावः । आत्मस्वरूपमेवोपदिशतीति—अन्यत्रेत्यादिना यत्त्वया पृष्टं स तवात्मैवेत्युक्तं भवत्युत्तरमनेनेति भावः । ६. मरणनिमित्तेति—"येयं प्रेत" इति वचनादिति भावः । ७. वचनमिति—अस्तित्वपक्षस्यैव सिद्धान्तत्वसूच्येतदुत्तरमित्यर्थः ।

हन्ता चेन्मन्यते हन्तुꣳ हतश्चेन्मन्यते हतम् ।
उभौ तौ न विजानीतो नायꣳ हन्ति न हन्यते ॥१६॥

(ऐसे आत्मा को भी, देहमात्र को मैं मानने वाला पुरुष) यदि मारने वाला व्यक्ति आत्मा को मरने का विचार करता है और मारा जाने वाला उसे मारा हुआ जानता है, तो वे दोनों ही (उस आत्मा को) नहीं जानते हैं क्योंकि यह आत्मा न मारता है और न ही मरता ही है ॥१६॥

एवंभूतमप्यात्मानं शरीरमात्रात्मदृष्टिर्हन्ता चेद्यदि मन्यते चिन्तयति हन्तुं हनिष्याम्येनमिति योऽप्यन्यो हतः सोऽपि चेन्मन्यते हतमात्मानं हतोऽहमित्युभावपि तौ न विजानीतः स्वमात्मानं यतो नायं हन्ति अविक्रियत्वादात्मनस्तथा न हन्यत आकाशवदविक्रियत्वादेव । अतोऽनात्मज्ञविषय एव धर्माधर्मादिलक्षणः संसारो न ब्रह्मज्ञस्य श्रुतिप्रामाण्यान्न्यायाच्च धर्माधर्माद्यनुपपत्तेः ॥१६॥

यद्यविक्रिय एवाऽऽत्मा तर्हि धर्माद्यविकार्यभावात्तदसिद्धौ संसारोपलम्भ एव न स्यादित्याशङ्क्याऽऽह—अनात्मज्ञविषय एवेति । यदज्ञानात्प्रवृत्तिः स्यात्तज्ज्ञानात्सा कुतो भवेदिति न्यायाच्चाऽऽत्मज्ञस्य धर्मादि नोपपद्यतेऽत आत्मज्ञः सदा मुक्त एवेत्याह—न्यायाच्चेति ।

तदुक्तम्—"विवेकी सर्वदा मुक्तः कुर्वतो नास्ति कर्तृता ।
अलेपवादमाश्रित्य श्रीकृष्णजनकौ यथा" इति ॥१६॥

ऐसे आत्मा को भी, देहमात्र का आत्मा मानने वाला पुरुष यदि ऐसा मानता है कि मैं किसी को मारने वाला, मारने का विचार करता हूँ; साथ ही यह भी सोचता है कि मैं इसे मारूँगा, वैसे ही दूसरा मरने वाला भी यह समझ कर कि मैं मारा गया हूँ, इस प्रकार अपनी आत्मा को मरा हुआ मानता है, तो वे मारने और मरने वाले दोनों ही अपनी आत्मा को नहीं जानते, क्योंकि निर्विकार आत्मा क्रियाशून्य होने के कारण वह मार नहीं सकता और आकाश के समान अविकारी होने के कारण ही मारा भी नही जा सकता। अतः धर्माधर्मादिरूप संसार अनात्मज्ञों से सम्बन्ध रखता है; ब्रह्मज्ञानियों से नहीं। अनुभव के अतिरिक्त श्रुति प्रमाण और युक्ति से भी ब्रह्मज्ञानी द्वारा धर्माधर्मादि का होना सिद्ध नहीं होता ॥१६॥

---

१. अनात्मज्ञविषयस्तदाश्रित इति यावत् । २. न ब्रह्मज्ञस्य धर्मादिसंसार इत्यन्वयः । ३. धर्माद्यनुपपत्तेर्ब्रह्मज्ञस्येत्यन्वयः । ४. तदसिद्धौ—धर्माद्यसिद्धौ । ५. आत्मज्ञस्येत्यादि—धर्मादिप्रवृत्तिर्हि प्रत्यगज्ञानमूला "यस्त्वात्मरतिरेव स्यादि"त्यादिस्मृतेरिति भावः । ६. विवेकीत्यादि—यथाह भगवान् "यस्य नाहं कृतो भावः" इत्यादि । ७. अलेपवादमिति "नैव किञ्चित्करोमीति" "यथा सर्वगतं सौक्ष्म्यादाकाशं नोपलिप्यते । सर्वत्रावस्थितो देहे तथात्मा नोपलिप्यते ।" (भ. गी. १३-३२) इत्यादिप्रमाणोत्थं दृढं प्रत्ययमिति यावत् ।

कथं पुनरात्मानं जानातीत्युच्यते—

अणोरणीयान्महतो महीयानात्माऽस्य जन्तो-
र्निहितो गुहायाम् । तमक्रतुः पश्यति वीत-
शोको धातुप्रसादान्महिमानमात्मनः ॥२०॥

यह आत्मा सूक्ष्म से भी सूक्ष्मतर तथा महान् से भी महत्तर इस जीव की हृदय रूपी गुफा में (अन्तरात्मरूप से) स्थित है (दृष्टादृष्ट बाह्य विषयों से उपरत) निष्काम पुरुष अपनी इन्द्रियादि के प्रसाद से आत्मा की उक्त महिमा को देखता है और शोकरहित हो जाता है ॥२०॥

अणोः सूक्ष्मादणीयाञ्श्यामाकादेरणुतरः । महतो महत्परिमाणान्महीयान्महत्तरः पृथिव्यादेः । अणु महद्वा यदस्ति लोके वस्तु तत्तेनैवाऽऽत्मना नित्येनाऽऽत्मवत्सम्भवति । तदात्मना विनिर्मुक्तमसत्संपद्यते । तस्मादसावेवाऽऽत्माऽणोरणीयान्महतो महीयान्सर्वनामरूपवस्तूपाधिकत्वात् । स चाऽऽत्माऽस्य जन्तोर्ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तस्य

अकामत्वादिसाधनान्तरविधानार्थमुत्तरवाक्यमवतारयति—कथं पुनरिति । एकस्याणुत्वं महत्त्वं च विरुद्धं कथमनूद्यत इत्याशङ्क्याणुत्वाद्यध्यासाधिष्ठानत्वादणुत्वादिव्यवहारो न तत्त्वत इत्यविरोधमाह—अणु महद्वेति ॥२०॥

फिर भला अधिकारी मुमुक्षु आत्मा को किस प्रकार जानता है ? ऐसी आकांक्षा होने पर कहते हैं—

यह आत्मा श्यामाकादि सूक्ष्म पदार्थों से भी सूक्ष्मतर है और पृथिवी आदि महत् परिमाण वाले महान् पदार्थों से भी महत्तर है। इतना ही नहीं; संसार में अणु या महान् जो कुछ वस्तु है, वह नित्यस्वरूप आत्मा से ही आत्मवान् हो रही है, आत्मा से पृथक् होने पर वह वस्तु सत्ताशून्य हो जाती है। इसीलिये वह आत्मा अणु से अणु महान् से महान् कहा गया है; क्योंकि नाम-रूप वाली सभी वस्तु उसकी उपाधि हैं। ब्रह्मा से लेकर क्षुद्र जन्तु पर्यन्त इस सम्पूर्ण प्राणी समुदाय की बुद्धिरूप गुहा

---

१. हन्तृत्वादिना ज्ञानं चेन्नात्मज्ञानं केन तर्हि रूपेण साधनेन च तज्ज्ञानमिति पृच्छति—कथं पुनरिति । २. अणीयस्त्वाद्युपलक्षितसर्वाधिष्ठानत्वेन अकामत्वादिना च साधनेनेत्याशयेन उत्तरयति—उच्यत इति । ३. धातुप्रसादादिति—धातुः प्रसादादित्यादिपाठान्तरे धातुरीश्वरस्य कृपयेति व्याख्येयम् । यमेवैष वृणुत इति वाक्यान्तरानुगुण्यात् । ४. परमाण्वाकाशादौ भासमानं नित्यत्वमपि तदधीनमेवेत्याशयेन विशिनष्टि—नित्येनेति । नित्यो नित्यानामिति श्रुतेः । नित्याधीन एवाऽनित्यानामात्मलाभ इति भावः । ५. तदात्मना विनिर्मुक्तमित्यादि—तद्व्यतिरिक्तत्वेन विवक्षितमिति यावत् । तत्सत्त्वे तद्विनिर्मोकासम्भवादित्यवधेयम् । ६. सर्वनामरूपेत्यादि—उपाधिधर्मावभास एवोपहितेऽनूक्त इति भावः । ७. अकामत्वादीत्यादिना नाविरत इत्यादिना वक्ष्यमाणसंग्रहः ।

अन्यथा दुर्विज्ञेयोऽयमात्मा कामिभिः प्राकृतपुरुषैः, यस्मात्—

आसीनो दूरं व्रजति शयानो याति सर्वतः ।
कस्तं मदामदं देवं मदन्यो ज्ञातुमर्हति ॥२१॥

वह अचल होता हुआ भी दूर तक जाता है तथा सोता हुआ भी सभी ओर जाता है, वह मद से युक्त और मद (हर्ष) से रहित है, उस देव को मेरे सिवा और कौन जान सकता है ॥२१॥

प्राणिजातस्य गुहायां हृदये निहित आत्मभूतः स्थित इत्यर्थः । तमात्मानं दर्शन-श्रवणमननविज्ञानलिङ्गमक्रतुरकामो दृष्टादृष्टबाह्यविषयोपरतबुद्धिरित्यर्थः । यदा चैव तदा मनआदीनि करणानि धातवः शरीरस्य धारणात्प्रसीदन्तीत्येषां धातूनां प्रसादा-दात्मनो महिमानं कर्मनिमित्तवृद्धिक्षयरहितं पश्यत्ययमहमस्मीति साक्षाद्विजानाति । ततो वीतशोको भवति ॥२०॥

आसीनोऽवस्थितोऽचल एव सन्दूरं व्रजति शयानो याति सर्वत एवमसावात्मा देवो मदामदः समदोऽमदश्च सहर्षोऽहर्षश्च विरुद्धधर्मवानतोऽशक्यत्वाज्ज्ञातुं कस्तं

विरुद्धानेकधर्मवत्त्वाद्दुर्विज्ञेयश्चेदात्मा कथं तर्हि पण्डितस्यापि सुज्ञेयः स्यादित्याशङ्क्याऽऽह—

में वह आत्मा प्रत्यगात्मरूप से स्थित है। देखना, सुनना, मनन करना और जानना ये जिसके अनुमापक लिङ्ग हैं, उस आत्मा को दृष्टादृष्ट बाह्य विषयों से उपरत बुद्धि वाला निष्काम पुरुष ही जान सकता है। जिस समय दृष्टादृष्ट भोगों से चित्त उपरत होता है, उसी समय शरीर को धारण करने वाले मन आदि इन्द्रियाँरूप धातुएँ प्रसन्न होती हैं। इन धातुओं के प्रसाद से वह अपने आत्मा के कर्म के कारण से होने वाली वृद्धि एवं क्षय से रहित महिमा को सुस्पष्ट देखता है। तात्पर्य यह है, 'यह मैं हूँ' इस बात को साक्षात् रूप से जानता है, तब फिर वह शोक से रहित हो जाता है ॥२०॥

इसके विपरीत सकाम प्राकृत पुरुषों के द्वारा इस आत्मा को जानना दुष्कर है—

क्योंकि वह अचल होकर भी दूर चला जाता है, सोता हुआ भी सब ओर पहुँच जाता है। इस

---

१. अन्यथेति—अकामत्वप्रयुक्तधातुप्रसादमन्तरेणेति यावत् । २. तमात्मनो महिमानमित्यन्वये विवक्षितेऽपि महिम्न आत्मानतिरेकं ज्ञापयितुमाह—आत्मानमिति । आत्मस्वरूपमेव महिमानमित्यर्थः । ३. गुहायां निहित इति श्रौतार्थे युक्तिमनुकूलयति—दर्शनेत्यादिना । करणं हि सकर्तृकमित्यादियुक्तिरत्रानुसंधेया । सा च "को ह्येवान्यात् कः प्राण्यादि"त्यादि श्रुत्याऽनुगृह्यत इत्यवधेयम् । ४. कामेन हि प्रवर्तमानस्य रागादयो मलिनयन्ति करणानि अकामस्य तु रागाद्यनुत्पाद एव प्रसादः आच्छस्य करणानां तदेव चात्मदर्शनोपयोगि यथाह भगवान् "रागद्वेषवियुक्तैस्त्वि"त्यादीत्यभिप्रयन्नाह—यदा चैवमित्यादि । ५. एष नित्यो महिमा ब्राह्मणस्य न वर्धते कर्मणा नो कनीयानिति श्रुतिमाश्रित्य व्याचष्टे कर्मेत्यादि । ६. रहितं स्वरूपमेवेति भावः । ७. सहर्षोऽहर्षश्चेति मनः समुपहितः सन्नेवेति भावः ।

मदाममं देवं मदन्यो ज्ञातुमर्हति । अस्मदादेरेव सूक्ष्मबुद्धेः पण्डितस्य कस्यचिद्विज्ञेयोऽयमात्मा स्थितिगतिनित्यानित्यादिविरुद्धानेकधर्मोपाधिकत्वाद्विरुद्धधर्मवत्त्वाद्विश्वरूप इव चिन्तामणिवदवभासते । अतो दुर्विज्ञेयत्वं दर्शयति कस्तं मदन्यो ज्ञातुमर्हतीति । करणानामुपशमः शयनं करणजनितस्यैकदेशविज्ञानस्योपशमः शयानस्य भवति । यदा चैवं केवलसामान्यविज्ञानत्वात्सर्वतो यातीव यदा विशेषविज्ञानस्थः स्वेन रूपेण स्थित इव सन्मनआदिगतिषु तदुपाधिकत्वाद्दूरं व्रजतीव स चेहैव वर्तते ॥२१॥

स्थितिगतीति । [1]विश्वरूपो मणिर्यथा नानारूपोऽवभासते परं नानाविधोपाधिसंनिधानान्न स्वतो नानारूपः, [2]चिन्तामणौ वा यद्यच्चिन्त्यते तत्तच्चिन्तोपाधिकमेवावभासते [3]न तत्त्वतः, तथा स्थितिगतिनित्यानित्यादयो विरुद्धानेकधर्मा येषां तदुपाधिवशादात्माऽपि विरुद्धधर्मवानिवावभासत इति योजना । [4]इति तस्य सुविज्ञेयो भवति । उपाध्यविविक्तदर्शिनस्तु दुर्विज्ञेय एवेत्यर्थः । [5]स्वतो विरुद्धधर्मवत्त्वं नास्तीत्येतदेव श्रुतियोजनया दर्शयति—करणानामित्यादिना । एकदेशविज्ञानस्येति । [6]मनुष्योऽहं [7]नीलं पश्यामीत्यादिपरिच्छिन्नविज्ञानस्येत्यर्थः ॥२१॥

प्रकार वह आत्मा हर्षरूप मद से युक्त और ऐसे मद से रहित विरुद्ध धर्म वाला है । अतः जो नहीं जाना जा सकता ऐसे मदयुक्त और ऐसे मद से रहित हुए को मेरे सिवा दूसरा कौन प्राकृत बुद्धि पुरुष जान सकता है । यह आत्मा हमारे जैसे सूक्ष्म बुद्धि पण्डितों के लिये ही सुविज्ञेय है । स्थिति, गति, नित्य और अनित्य इत्यादि अनेक विरुद्ध धर्मरूप उपाधि वाला यह आत्मा है । इसीलिये परस्पर विरुद्ध धर्मयुक्त होने के कारण यह आत्मा चिन्तामणि के समान सर्वरूप-सा भासता है । इसीलिये मेरे सिवा उसे कौन जान सकता है ? ऐसा कहकर उस आत्मा की विज्ञेयता को श्रुति बतलाती है । इन्द्रियों के व्यापार का उपशम हो जाने को शयन कहते हैं; क्योंकि सोने वाले पुरुष का इन्द्रियजनित एक देश सम्बन्धी विज्ञान शान्त हो जाता है । जब ऐसी अवस्था होती है, तब केवल सामान्य विज्ञान होने से वह सब ओर जाता हुआ भासता है और जिस समय वह विशेष विज्ञान में स्थित होता है, तो उस समय स्वरूपतः स्थित रहकर भी मन आदि उपाधियों वाला होने के कारण उन मन आदि की गतियों से गतिशील-सा जान पड़ता है । वास्तव में वह यहीं रहता है, अन्यत्र जाता नहीं । (तात्पर्य यह कि निरुपाधिक चैतन्यघन आत्मा सर्वत्र व्यापक और गतिशून्य है, किन्तु परिच्छिन्न गतिशील उपाधियों से उपहित होने के कारण वही आत्मा परिच्छिन्न एवं गतिमान्‌रूप में भासता है) ॥२१॥

---

१. विश्वरूपो मणिरिति—विश्वं सर्वं स्वसन्निहितं रूपवद्वस्तु रूप्यते प्रतिबिम्बिततत्त्वेनावलोक्यतेऽस्मिन्निति विश्वरूपः काचविशेषादिरूपो मणिरित्यर्थः । २. शक्तिविशेषवत्त्वविवक्षयेदमुदाहरणान्तरमित्याशयेन व्याचष्टे—चिन्तामणौ वेति । ३. न तत्त्वतो न स्वरूपतः उपाधिमन्तरेणेति यावत् । ४. इति तस्येति । इति—यथोक्तविचारेण । तस्य—पण्डितस्येत्यर्थः । ५. विरुद्धधर्मवत्त्वस्य स्वतस्त्वे उपाध्युपशमेऽपि भासेत न च भासत इति न तथेत्याशयेनावतारयति—स्वतो विरुद्धधर्मवत्त्वमिति । ६. देहतादात्म्येनात्मनः परिच्छिन्नत्वविज्ञानमाह—मनुष्योऽहमिति । ७. चक्षुरादितादात्म्येन तस्य परिच्छिन्नत्वविज्ञानमुदाहरति—नीलं पश्यामीत्यादिना ।

अशरीरꣳ शरीरेष्वनवस्थेष्ववस्थितम् । महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति ॥२२॥

जो (देवादि अनित्य) शरीरों में शरीररहित तथा नित्य स्वरूप है, उस महान् सर्वव्यापक आत्मा को (यह मैं हूँ इस प्रकार) जानकर बुद्धिमान् पुरुष शोक नहीं करता ॥२२॥

तद्विज्ञानाच्च शोकात्यय इत्यपि दर्शयति—

अशरीरं स्वेन रूपेणाऽऽकाशकल्प आत्मा तमशरीरं शरीरेषु देवपितृमनुष्यादिशरीरेष्वनवस्थेष्ववस्थितिरहितेष्वनित्येष्ववस्थितं नित्यमविकृतमित्येतत् । महान्तं महत्त्वस्याऽऽपेक्षिकत्वशङ्कायामाह—विभु व्यापिनमात्मानम् । [1]आत्मग्रहणं स्वतोऽनन्यत्वप्रदर्शनार्थम् । [2]आत्मशब्दः प्रत्यगात्मविषय एव [3]मुख्यस्त[4]मीदृशमात्मानं मत्त्वाऽयमहमिति धीरो धीमान्न शोचति । न ह्येवंविधस्याऽऽत्मविदः शोकोपपत्तिः ॥२२॥

यद्यपि दुर्विज्ञेयोऽयमात्मा तथाऽप्युपायेन सुविज्ञेय एवेत्याह—

॥२२॥

आत्म-विज्ञान से शोक की निवृत्ति

उस आत्मा के अपरोक्ष अनुभव से शोक-पदोपलक्षित संसार के सम्पूर्ण दुःखों का अन्त हो जाता है। अब इस बात को भी समझाते हैं—

देव, पितृ और मनुष्यादि शरीर अवस्थितिरहित परिणामी हैं, उन अनित्य शरीरों में स्वरूपतः आकाश के तुल्य निरवयव आत्मा नित्य एवं निर्विकार है तथा वह आत्मा महान् है। किसी की अपेक्षा करके आत्मा में महत्त्व है, इस शङ्का को दूर करने के लिये उसे महान् के साथ-साथ विभु यानी व्यापक है, ऐसा विशेषण दिया। अपने से ब्रह्म को अभिन्न बतलाने के लिये यहाँ आत्मशब्द का प्रयोग किया गया है; क्योंकि आत्म-शब्द प्रत्यगात्मविषय में ही मनुष्य है, ऐसे आत्मा को 'यही मैं हूँ' इस प्रकार अपरोक्ष अनुभव कर बुद्धिमान् पुरुष शोक नहीं करता क्योंकि इस प्रकार के आत्मवेत्ता पुरुष में शोक सम्भव भी नहीं ॥२२॥

यद्यपि यह आत्मा दुर्विज्ञेय है, फिर भी उपाय करने से वह सुविज्ञेय हो ही जाता है। इसी बात को आगे कहते हैं—

---

१. प्रकरणाल्लभ्यमानेऽप्यात्मनि किमर्थमात्मग्रहणमत आह—आत्मग्रहणमिति । विभुमीश्वरमात्मानं मत्वाऽऽत्मत्वेन मत्वेत्येवमीश्वरस्य स्वस्मादभेदप्रदर्शनार्थमित्यर्थः । २. आत्मशब्दस्य जीवेशसाधारणत्वात्कथं तेनाभेदप्रदर्शनमत आह—आत्मशब्द इति । ३. मुख्य इति—तथैव लोकशास्त्ररूढत्वादिति भावः । ४. तमीदृशमिति—ईदृशमशरीरत्वादिविशेषणकं तमीश्वरमात्मानं मत्वा योऽशरीरादिलक्षण ईश्वरः स ममात्मैवेत्येवमपरोक्षीकृत्येति यावत् ।

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन। यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूँ स्वाम् ॥२३॥

यह आत्मा (वेदाध्ययन रूप) प्रवचन से प्राप्त होने योग्य नहीं है और न (ग्रन्थार्थ) धारण शक्ति या अधिक श्रवण से प्राप्त हो सकता है, किन्तु यह साधक जिसका वरण करता है उस आत्मा से ही यह प्राप्त किया जा सकता है। उसके समक्ष यह आत्मा अपने स्वरूप को अनावृत कर देता है ॥२३॥

नायमात्मा प्रवचनेनानेकवेदस्वीकरणेन लभ्यो ज्ञेयो नापि मेधया ग्रन्थार्थधारण-शक्त्या। न बहुना श्रुतेन केवलेन। केन तर्हि लभ्य इत्युच्यते। यमेव स्वात्मानमेष साधको वृणुते प्रार्थयते तेनैवाऽऽत्मना वरित्रा स्वयमात्मा लभ्यो ज्ञायत इत्येतत्। एवं निष्कामस्याऽऽत्मानमेव प्रार्थयत आत्मनैवाऽऽत्मा लभ्य इत्यर्थः। कथं लभ्यः? इत्युच्यते। तस्याऽऽत्मकामस्यैष आत्मा विवृणुते प्रकाशयति पारमार्थिकीं तनूं स्वां स्वकीयां स्वयाथात्म्यमित्यर्थः ॥२३॥

न बहुना श्रुतेनेति। आत्मप्रतिपादकोपनिषद्विचारातिरिक्तशास्त्रश्रवणेन न लभ्यः। उपनिषद्विचारेणापि केवलेन सिद्धोपदेशरहितेन न लभ्यत इत्यर्थः। परमेश्वराचार्यानुग्रहेण तु लभ्यत इत्याह—यमेवेति। स्वात्मानमेव साधकः श्रवणमननादिभिर्वृणुते संभजते श्रवणादिकालेऽपि सोऽहमित्यभेदेनैवानुसंधत्त इत्यर्थः। तेनैवेति। लक्षणया परमात्मानुग्रहेणैव वरित्राऽभेदानुसंधानवता यथानुसंधानमात्मतयैव परमात्मा लभ्यो भवतीत्यर्थः। वैपरीत्येन वा योजना। आत्मा त्वेष प्रकरणी परमात्माऽन्तर्यामिरूपेणाऽऽचार्यरूपेण वा व्यवस्थितो यमेव मुमुक्षुं वृणुते भजतेऽनुगृह्णाति। तेनैव परमेश्वरानुगृहीतेनाभेदानुसंधानवता लभ्यत इत्यर्थः ॥२३॥

आत्मा की प्राप्ति आत्म-कृपा साध्य है

यह आत्मा अनेक वेदों को स्वीकार कर लेना रूप प्रवचन से जानने योग्य नहीं है और न ग्रन्थ के अर्थ को धारण करने की शक्ति से ही जाना जा सकता है। वैसे ही न केवल बहुश्रुत होने से ही आत्मा प्राप्त किया जा सकता है तो फिर किस प्रकार यह आत्मा प्राप्त किया जा सकता है? इस पर कहते हैं कि यह साधक जिस आत्मा की प्रार्थना करता है, उस वरण करने वाले आत्मा द्वारा यह आत्मा स्वयं ही प्राप्त किया जा सकता है। तात्पर्य यह है कि 'यह ऐसा है' इस प्रकार उस साधक से ही जाना जाता है अर्थात् केवल आत्मप्राप्ति के लिये ही प्रार्थना करने वाले निष्काम पुरुष को आत्मा के द्वारा ही आत्मा की प्राप्ति होती है। आत्मा कैसे उपलब्ध होता है? इस पर कहते हैं—उस आत्माभिलाषी पुरुष के सामने यह आत्मा अपने पारमार्थिक स्वरूप को आवरणरहित प्रकाशित कर डालता है ॥२३॥

अशरीरꣳ शरीरेष्वनवस्थेष्ववस्थितम् । महान्तं
विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति ।।२२।।

जो (देवादि अनित्य) शरीरों में शरीररहित तथा नित्य स्वरूप है, उस महान् सर्वव्यापक आत्मा को (यह मैं हूँ इस प्रकार) जानकर बुद्धिमान् पुरुष शोक नहीं करता ।।२२।।

तद्विज्ञानाच्च शोकात्यय इत्यपि दर्शयति—

अशरीरं स्वेन रूपेणाऽऽकाशकल्प आत्मा तमशरीरं शरीरेषु देवपितृमनुष्यादि-शरीरेष्वनवस्थेष्ववस्थितिरहितेष्वनित्येष्ववस्थितं नित्यमविकृतमित्येतत् । महान्तं महत्त्वस्याऽऽपेक्षिकत्वशङ्कायामाह—विभु व्यापिनमात्मानम् । [1]आत्मग्रहणं स्वतोऽनन्यत्व-प्रदर्शनार्थम् । [2]आत्मशब्दः प्रत्यगात्मविषय एव [3]मुख्यस्त[4]मीदृशमात्मानं मत्वाऽयमहमिति धीरो धीमान्न शोचति । न ह्येवंविधस्याऽऽत्मविदः शोकोपपत्तिः ।।२२।।

यद्यपि दुर्विज्ञेयोऽयमात्मा तथाऽप्युपायेन सुविज्ञेय एवेत्याह—

।।२२।।

आत्म-विज्ञान से शोक की निवृत्ति

उस आत्मा के अपरोक्ष अनुभव से शोक-पदोपलक्षित संसार के सम्पूर्ण दुःखों का अन्त हो जाता है। अब इस बात को भी समझाते हैं—

देव, पितृ और मनुष्यादि शरीर अवस्थितिरहित परिणामी हैं, उन अनित्य शरीरों में स्वरूपतः आकाश के तुल्य निरवयव आत्मा नित्य एवं निर्विकार है तथा वह आत्मा महान् है। किसी की अपेक्षा करके आत्मा में महत्त्व है, इस शङ्का को दूर करने के लिये उसे महान् के साथ-साथ विभु यानी व्यापक है, ऐसा विशेषण दिया। अपने से ब्रह्म को अभिन्न बतलाने के लिये यहाँ आत्मशब्द का प्रयोग किया गया है; क्योंकि आत्म-शब्द प्रत्यगात्मविषय में ही मनुष्य है, ऐसे आत्मा को 'यही मैं हूँ' इस प्रकार अपरोक्ष अनुभव कर बुद्धिमान् पुरुष शोक नहीं करता क्योंकि इस प्रकार के आत्मवेत्ता पुरुष में शोक सम्भव भी नहीं ।।२२।।

यद्यपि यह आत्मा दुर्विज्ञेय है, फिर भी उपाय करने से वह सुविज्ञेय हो ही जाता है। इसी बात को आगे कहते हैं—

---

१. प्रकरणाल्लभ्यमानेऽप्यात्मनि किमर्थमात्मग्रहणमत आह—आत्मग्रहणमिति । विभुमीश्वरमात्मानं मत्वाऽऽत्मत्वेन मत्वेत्येवमीश्वरस्य स्वस्मादभेदप्रदर्शनार्थमित्यर्थः । २. आत्मशब्दस्य जीवेशसाधारणत्वात्कथं तेनाभेदप्रदर्शनमत आह—आत्मशब्द इति । ३. मुख्य इति—तथैव लोकशास्त्ररूढत्वादिति भावः । ४. तमीदृशमिति—ईदृशमशरीरत्वादिविशेषणकं तमीश्वरमात्मानं मत्वा योऽशरीरादिलक्षण ईश्वरः स ममात्मैवेत्येवमपरोक्षीकृत्येति यावत् ।

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन। यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूँ स्वाम् ॥२३॥

यह आत्मा (वेदाध्ययन रूप) प्रवचन से प्राप्त होने योग्य नहीं है और न (ग्रन्थार्थ) धारण शक्ति या अधिक श्रवण से प्राप्त हो सकता है, किन्तु यह साधक जिसका वरण करता है उस आत्मा से ही यह प्राप्त किया जा सकता है। उसके समक्ष यह आत्मा अपने स्वरूप को अनावृत कर देता है ॥२३॥

नायमात्मा प्रवचनेनानेकवेदस्वीकरणेन लभ्यो ज्ञेयो नापि मेधया ग्रन्थार्थधारण-शक्त्या। न बहुना श्रुतेन केवलेन। केन तर्हि लभ्य इत्युच्यते। यमेव स्वात्मानमेष साधको वृणुते प्रार्थयते तेनैवाऽऽत्मना वरित्रा स्वयमात्मा लभ्यो ज्ञायत इत्येतत्। एवं निष्कामस्याऽऽत्मानमेव प्रार्थयत आत्मनैवाऽऽत्मा लभ्य इत्यर्थः। कथं लभ्यः? इत्युच्यते। तस्याऽऽत्मकामस्यैष आत्मा विवृणुते प्रकाशयति पारमार्थिकीं तनूं स्वां स्वकीयां स्वयाथा-त्म्यमित्यर्थः ॥२३॥

न बहुना श्रुतेनेति। **आत्मप्रतिपादकोपनिषद्विचारातिरिक्तशास्त्रश्रवणेन न लभ्यः। उपनिषद्वि-चारेणापि केवलेन सिद्धोपदेशरहितेन न लभ्यत इत्यर्थः। परमेश्वराचार्यानुग्रहेण तु लभ्यत इत्याह—यमेवेति। स्वात्मानमेव साधकः श्रवणमननादिभिर्वृणुते संभजते श्रवणादिकालेऽपि सोऽह-मित्यभेदेनैवानुसंधत्त इत्यर्थः। तेनैवेति। लक्षणया परमात्मानुग्रहेणैव वरित्राऽभेदानुसंधानवता यथानुसंधानमात्मतयैव परमात्मा लभ्यो भवतीत्यर्थः। वैपरीत्येन वा योजना। आत्मा त्वेष प्रकरणी परमात्माऽन्तर्यामिरूपेणाऽऽचार्यरूपेण वा व्यवस्थितो यमेव मुमुक्षुं वृणुते भजतेऽनुगृह्णाति। तेनैव परमेश्वरानुगृहीतेनाभेदानुसंधानवता लभ्यत इत्यर्थः ॥२३॥**

आत्मा की प्राप्ति आत्म-कृपा साध्य है

यह आत्मा अनेक वेदों को स्वीकार कर लेना रूप प्रवचन से जानने योग्य नहीं है और न ग्रन्थ के अर्थ को धारण करने की शक्ति से ही जाना जा सकता है। वैसे ही न केवल बहुश्रुत होने से ही आत्मा प्राप्त किया जा सकता है तो फिर किस प्रकार यह आत्मा प्राप्त किया जा सकता है? इस पर कहते हैं कि यह साधक जिस आत्मा की प्रार्थना करता है, उस वरण करने वाले आत्मा द्वारा यह आत्मा स्वयं ही प्राप्त किया जा सकता है। तात्पर्य यह है कि 'यह ऐसा है' इस प्रकार उस साधक से ही जाना जाता है अर्थात् केवल आत्मप्राप्ति के लिये ही प्रार्थना करने वाले निष्काम पुरुष को आत्मा के द्वारा ही आत्मा की प्राप्ति होती है। आत्मा कैसे उपलब्ध होता है? इस पर कहते हैं—उस आत्माभिलाषी पुरुष के सामने यह आत्मा अपने पारमार्थिक स्वरूप को आवरणरहित प्रकाशित कर डालता है ॥२३॥

किंचान्यत्—

नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः ।
नाशान्तमानसो वाऽपि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात् ॥२४॥

जो (श्रुति-स्मृति से अविहित) पाप कर्मों से नहीं हटा है, जिसकी इन्द्रियाँ शान्त नहीं हैं, जो असमाहित मन वाला है और जिसका चित्त शान्त नहीं है, वह इसे ब्रह्मज्ञान द्वारा प्राप्त नहीं कर सकता ॥२४॥

न दुश्चरितात्प्रतिषिद्धाच्छ्रुतिस्मृत्यविहितात्[1] पापकर्मणोऽविरतोऽनुपरतः[2]। नापीन्द्रियलौल्यादशान्तोऽनुपरतः । नाप्यसमाहितोऽनेकाग्रमना[3] विक्षिप्तचित्तः । समाहितचित्तोऽपि सन्[4] समाधानफलार्थित्वान्नाप्यशान्तमानसो व्यापृतचित्तः[5] । प्रज्ञानेन ब्रह्मविज्ञानेनैनं[6] प्रकृतमात्मानमाप्नुयात् । यस्तु दुश्चरिताद्विरत इन्द्रियलौल्याच्च समाहितचित्तः समाधानफलादप्युपशान्तमानसश्चाऽऽचार्यवान्[7] प्रज्ञानेन यथोक्तमात्मानं प्राप्नोतीत्यर्थः ॥२४॥

दुश्चरितं कायिकं पापम् ॥२४॥

आत्मानुभूति का अनधिकारी

इसके अतिरिक्त बात यह भी है—

जो श्रुति-स्मृति से अविहित निषिद्ध कर्माचरण को त्यागता नहीं एवं जो इन्द्रियों की चञ्चलता के कारण उपरतिशून्य अशान्त है, ये दोनों ही आत्मा को नहीं जान सकते, इतना ही नहीं, प्रत्युत जिसका चित्त एकाग्र नहीं है, ऐसे विक्षिप्त चित्त वाले पुरुष भी उसे नहीं जान सकते । वैसे ही समाहित चित्त होता हुआ भी उस एकाग्रता के फल का इच्छुक जो अशान्त चित्त होता है अर्थात् जिसका चित्त सदा व्यापार में लगा रहता है, वह पुरुष भी इस प्रकृत आत्मा को केवल ब्रह्मविज्ञानरूप प्रज्ञा से नहीं प्राप्त कर सकता, किन्तु जो निषिद्धाचरण से उपरत हो गया है, जिसकी इन्द्रियों की चञ्चलता मिट गयी है तथा जो समाहित चित्त और समाधान के फल से भी उपशान्त अन्तःकरण वाला है, वह आचार्यवान् साधक ही ब्रह्मविज्ञान से मुक्त आत्मा को प्राप्त कर सकता है ॥२४॥

---

१. न खलु सर्वं शक्य निषेद्धुमित्याशयेनाह—श्रुतिस्मृत्यविहितादिति । २. विहितमपि श्येनाद्यग्राह्यमित्याशयवानाह—पापकर्मण इति । ३. अनेकाग्रेति—एकमग्रं यस्य तदेकाग्रं यन्न तथा तदनेकाग्रम् । एकस्मिन्नग्रमस्येति वा व्युत्पाद्यम् । ४. समाधानफलेति ख्यातिसिद्ध्यादिरूपं समाधानफलम् । ५. व्यापृतेति—समाधानफलादावेकस्मिन् व्यापृतत्वेऽपि चित्तस्य नैकाग्र्यं हीयत इति द्रष्टव्यम् । ६. ब्रह्मविज्ञानेनेति—यथोक्तस्य ब्रह्मविज्ञानमेव नोत्पद्यत इति भावः । ७. प्रज्ञानेनेति—यथानिर्दिष्टसाधनैः प्रज्ञानं लब्ध्वेत्यर्थः ।

यस्य ब्रह्म च क्षत्त्रं च उभे भवत ओदनः ।
मृत्युर्यस्योपसेचनं क इत्था वेद यत्र सः ॥२५॥

इति काठकोपनिषदि प्रथमाध्याये द्वितीया वल्ली समाप्ता ।२।

जिस आत्मा के (सर्वधर्मरक्षक) ब्राह्मण और क्षत्रिय, ये दोनों भात हैं तथा मृत्यु जिसका शाकादि है; वह जहाँ है, उसे कौन (अज्ञानी पुरुष पूर्वोक्त अधिकारी के समान) इस प्रकार जान सकता है ॥२५॥

॥ इति द्वितीयवल्ली समाप्ता ॥

यस्त्व[1]नेवंभूतो यस्याऽऽत्मनो ब्रह्म च क्षत्त्रं च [2]ब्रह्मक्षत्त्रे [3]सर्वधर्मविधारके अपि सर्वत्राणभूते उभे ओदनोऽशनं भवतः स्याताम् । [4]सर्वहरोऽपि मृत्युर्यस्योपसेचनमिवौदनस्याशनत्वेऽप्यपर्याप्तस्तं प्राकृतबुद्धिर्यथोक्तसाधनरहितः सन्क इत्था इत्थमेवं यथोक्तसाधनवानिवेत्यर्थः । वेद विजानाति यत्र स आत्मेति ॥२५॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यश्रीमदाचार्यश्रीशङ्करभगवतः कृतौ काठकोपनिषद्भाष्ये प्रथमाध्याये द्वितीयवल्लीभाष्यं समाप्तम् ॥२॥

यस्त्वनेवंभूत उक्तसाधनसम्पन्नो न भवति स कथं वेदेति सम्बन्धः । अशनत्वेऽप्यपर्याप्त इति । अन्नत्वेऽप्यसमर्थः शाकस्थानीय इत्यर्थः । यत्र स्वे महिम्नि स विश्वोपसंहर्ता वर्तते तथाभूतं तं को वेदेति सम्बन्धः ॥२५॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमच्छुद्धानन्दपूज्यपादशिष्यानन्दज्ञानविरचिते काठकोपनिषद्भाष्यव्याख्याने द्वितीया वल्ली समाप्ता ॥२॥

किन्तु जो साधक ऐसा नहीं है, उसके लिये कौतूहलपूर्वक श्रुति कहती है—ब्राह्मण बुद्धि द्वारा और क्षत्रिय बल द्वारा सम्पूर्ण धर्मों को धारण करने वाले कहे गये हैं। ऐसे ब्राह्मण और क्षत्रिय दोनों वर्ण भी जिस आत्मा के ओदन यानी भोजन हैं तथा सबको हरने वाला होता हुआ भी मृत्यु जिसके भात के लिये शाकादि उपसेचन के समान हैं अर्थात् यह तो भोजन के लिये भी पर्याप्त नहीं है। जहाँ वह है, ऐसे यथोक्त आत्मा को पूर्वोक्त साधनों से दूर साधारण बुद्धि वाला पुरुष साधनसम्पन्न पुरुष के समान कैसे जान सकेगा अर्थात् विवेक-वैराग्यादि साधनसम्पन्न पुरुष की भाँति साधनहीन पुरुष सर्वथा उस आत्मा को नहीं जान सकता है ॥२५॥

॥ इति द्वितीय वल्ली ॥

---

१. अनेवंभूतो दुश्चरिताविरतादिरूपः । २. ब्रह्मक्षत्त्रे इति—क्षत्त्रसमभिव्याहाराद्ब्रह्मात्र ब्राह्मणः । ३. सर्वधर्मविधारक इति—सर्वे ये वेदोक्तधर्मास्तेषामुपदेशादिना धारके अन्यत्रधर्मादित्यनेन कटाक्षितं भवति । ४. सर्वहरोऽपीति—अन्यत्राधर्मादिति विभावितम् ।

ऋतं पिबन्तौ सुकृतस्य लोके गुहां प्रविष्टौ परमे परार्धे(र्ध्ये)। छायातपौ ब्रह्मविदो वदन्ति पञ्चाग्नयो ये च त्रिणाचिकेताः ॥१॥

इस शरीर में बुद्धि-रूप गुफा के भीतर (देहाश्रित आकाश स्थान की अपेक्षा) उत्कृष्ट पर-ब्रह्म के स्थान में दो प्रवेश किये हुए हैं। अपने कर्मफल को भोगने वाला (संसारी और असंसारी होने के कारण) छाया तथा धूप के समान (परस्पर विलक्षण) हैं, ऐसा ब्रह्मवेत्ता लोग कहते हैं। यही बात जिन्होंने तीन बार नाचिकेत अग्नि का चयन किया है, वे और पञ्चाग्नि की उपासना करने वाले भी कहते हैं ॥१॥

ऋतं पिबन्तावित्यस्या वल्ल्याः [1]सम्बन्धः। विद्याविद्ये नानाविरुद्धफले इत्यु[2]पन्यस्ते, न तु सफले ते यथावन्निर्णीते। तन्निर्णयार्था रथरूपककल्पना, तथा च प्रतिपत्तिसौकर्यम्। एवं च [3]प्राप्तृप्राप्यगन्तृगन्तव्यविवेकार्थं द्वावात्मानावुपन्यस्येते—

ऋतं सत्यमवश्यंभावित्वात्कर्मफलं पिबन्तौ। एकस्तत्र कर्मफलं पिबति भुङ्क्ते नेतरस्तथाऽपि पातृसंबन्धात्पिबन्तावित्युच्यते छत्रिन्यायेन। सुकृतस्य [4]स्वयंकृतस्य कर्मण

रथरूपककल्पनेति। **प्रसिद्धरथसादृश्यकल्पनेत्यर्थः। ऋतपानकर्ता जीवस्तावदेकश्चेतनः सिद्धो द्वितीयान्वेषणायां लोके संख्याश्रवणे समानस्वभावे [5]प्रथमप्रतीतिदर्शनाच्चेतनतया समानस्वभावः**

अथ तृतीय वल्ली

औपाधिक आत्मा में भेद निरूपण

"ऋतं पिबन्तौ" इस तृतीय वल्ली का सम्बन्ध इस प्रकार है। इससे पूर्व नाना विरुद्ध धर्म वाली विद्या और अविद्या बतलायी गयी, किन्तु फल के सहित वे यथार्थरूप में निर्णय नहीं किये गये थे। इसी निर्णय के लिये इस वल्ली में रथरूपक की कल्पना की गयी है; क्योंकि ऐसा करने से विद्या और अविद्या का समझना सरल हो जायगा। इसी प्रकार प्रापक और प्राप्य स्थान, गन्ता और गन्तव्य लक्ष्य का विवेक करने के लिये औपाधिक आत्मा में भेद का वर्णन भी करते हैं।

अवश्यंभावी होने के कारण कर्मफल को सत्य कहा गया है, उस कर्मफल का पान करने वाले दो आत्मा हैं। वस्तुतः उनमें एक कर्मफल का भोक्ता है, दूसरा नहीं। फिर भी "छत्रिणो यान्ति" इस छत्रीन्याय से एक कर्मफल भोगने वाले के सम्बन्ध रखने के कारण दोनों के लिये "पिबन्तौ" इस द्विवचन का प्रयोग हुआ है। किस कर्म के फल का भोग अवश्यंभावी है, ऐसी आकांक्षा होने पर श्रुति

---

१. सम्बन्ध इति—स चोत्थाप्योत्थापकभावात्मकोऽत्रगन्तव्यः पूर्वस्योत्तरोत्थापकत्वात्। २. उपन्यस्ते इति—"दूरमेते विपरीते विषूची" इत्यादावुक्ते इत्यर्थः। ३. प्राप्त्रित्यादि—प्राप्तिस्तदात्मनाऽवस्थितिर्गतिस्तत्साक्षात्कार-मात्रमिति विवेक्तव्यम्। ४. स्वेन कृतं हि सुष्ठु कृतं भवतीत्याशयेन व्याचष्टे—स्वयंकृतस्येति। ५. गवासंभवे महिषोऽपि प्रत्येतुमर्हतीत्यत उक्तम्—प्रथमेति।

यः सेतुरीजानानामक्षरं ब्रह्म यत्परम् । अभयं

यजन करने वाले (कर्मी यजमान के लिये) जो सेतु के समान है, उस नाचिकेत अग्नि को

ऋतमिति पूर्वेण सम्बन्धः । लोकेऽस्मिञ्शरीरे । गुहां गुहायां बुद्धौ प्रविष्टौ । परमे बाह्यपुरुषाकाशसंस्थानापेक्षया परमम् । परस्य ब्रह्मणोऽर्धं स्थानं परार्ध(र्ध्यं ?)म् । तस्मिन्हि परं ब्रह्मोपलभ्यते । अतस्तस्मिन्परमे परार्धे(र्ध्ये?)हार्दाकाशे प्रविष्टावित्यर्थः । तौ च च्छायातपाविव विलक्षणौ संसारित्वासंसारित्वेन ब्रह्मविदो वदन्ति कथयन्ति । न केवलमकर्मिण एव वदन्ति । पञ्चाग्नयो गृहस्थाः । ये च त्रिणाचिकेताः, त्रिःकृत्वो नाचिकेतोऽग्निश्चितो यैस्ते त्रिणाचिकेताः ॥१॥

यः सेतुरिव सेतुरीजानानां यजमानानां कर्मिणां दुःखसंतरणार्थत्वान्नाचिकेतो-

---

परमात्मैव द्वितीयः प्रतीयते । तस्य चोपचाराद्‌तपातृत्वमित्यर्थः । बाह्यपुरुषाकाशसंस्थानं देहाश्रय आकाशप्रदेशः । पञ्चाग्नय इति । गार्हपत्यो दक्षिणाग्निराहवनीयः सभ्य आवसथ्यश्चेत्येते पञ्चाग्नयो येषां ते तथोक्ताः । द्युपर्जन्यपृथिवीपुरुषयोषित्स्वग्निदृष्टिं ये कुर्वतेऽग्निहोत्रादिकारिणस्ते वा पञ्चाग्नय इत्यर्थः ॥१॥

ननु न सन्ति ब्रह्मविदः पञ्चाग्निविदश्च सांप्रतमनुपलम्भादित्याशङ्क्य पूर्वविद्वदनुभवविरोध-माह—यः सेतुरिवेत्यादिना । पूर्वेषां यद्यपि ब्रह्मवित्त्वादि सम्भवति प्रभावातिशयात्तथाऽपि नाऽऽधुनिका-

---

ने 'सुकृतस्य' शब्द का प्रयोग किया है। अपना किया हुआ फल सुकृत कहा जाता है। यहाँ पर सुकृतस्य शब्द का सम्बन्ध पूर्ववर्ती 'ऋतं' शब्द के साथ है अर्थात् अपने किये हुये कर्म का फल अज्ञानी जीव को भोगना ही पड़ता है। यह शरीर लोक है, इसमें बुद्धिरूप गुफा है जिसमें बाह्यदेहाश्रित आकाश स्थान की अपेक्षा परब्रह्म परमात्मा की उपलब्धि का स्थान होने के कारण उसे परम परार्ध कहा गया है, क्योंकि उसी में परब्रह्म की उपलब्धि होती है। अतः उस परम परार्ध हृदयाकाश में पूर्वोक्त दोनों आत्मा प्रविष्ट हैं। उनमें से एक संसारी और दूसरा असंसारी होने के कारण दोनों छाया और धूप की भाँति परस्पर विलक्षण स्वभाव वाले हैं, ऐसा ब्रह्मवेत्ता पुरुष कहते हैं। न केवल अकर्मी ब्रह्मवित् पुरुष ऐसा कहते हैं, बल्कि जिन्होंने तीन बार नाचिकेत अग्नि का चयन किया और पञ्चाग्नि विद्या के उपासक हैं, ऐसे त्रिणाचिकेत और पञ्चाग्नि के उपासक सद्‌गृहस्थ भी ऐसे ही कहते हैं ॥१॥

दुःख-सन्तरण का साधन होने से जो नाचिकेत अग्नि कर्म परायण यजमान के लिये सेतु के

---

१. त्रिःकृत्व इति—त्रिणाचिकेतस्त्रिभिरेत्यसंधिमित्यत्र भाष्यटिप्पण्यां द्रष्टव्यमिदम् । २० इति पृष्ठे । २. बाह्यो यः पुरुषाकाशस्तत्संस्थानं यद्वा बाह्यपुरुषो देहस्तस्याश्रयभूत आकाशप्रदेश आकाशसंस्थानमिति व्याचष्टे—देहाश्रय आकाशप्रदेश इति । ३. द्युपर्जन्येत्यादि तथाहि श्रुतिः "असौ वै लोकोऽग्निर्गौतम" इति प्रभृतिः (बृ. ६।२।६) । ४. "ते य एवमेतद्विदुर्ये चामी अरण्ये श्रद्धाँ सत्यमुपासते तेऽर्चिरभिसंभवन्ति" (बृ. ६-२-१५) इत्यादि वाक्यशेषाद्गृहिण एव पञ्चाग्निविद्यायामधिक्रियन्त इत्यावेदयन्नाह—अग्निहोत्रादिकारिण इति ।

तितीर्षतां पारं नाचिकेतꣳ शकेमहि ॥२॥

आत्मानꣳ रथिनं विद्धि शरीरꣳ रथमेव तु ।

बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च ॥३॥

तथा संसार से पार जाने वालों का जो अभय, परम आश्रय है, उस अक्षर ब्रह्म को जानने में हम समर्थ होवें ॥२॥

(कर्म फल भोगने वाले संसारी) आत्मा को रथ का स्वामी जानो और शरीर को रथ समझो, बुद्धि को सारथि और संकल्पादि रूप मन को लगाम समझो ॥३॥

ऽग्निस्तं वयं ज्ञातुं चेतुं च शकेमहि शक्नुवन्तः । किञ्च यच्चाभयं भयशून्यं संसारस्य पारं तितीर्षतां तर्तुमिच्छतां ब्रह्मविदां यत्परमाश्रयमक्षरमात्माख्यं ब्रह्म तच्च ज्ञातुं शकेमहि शक्नुवन्तः । परापरे ब्रह्मणी कर्मब्रह्मविदाश्रये वेदितव्ये इति वाक्यार्थः । एतयोरेव ह्युपन्यासः कृत ऋतं पिबन्ताविति ॥२॥

तत्र य उपाधिकृतः संसारी विद्याविद्ययोरधिकृतो मोक्षगमनाय संसारगमनाय च, तस्य तदुभयगमने साधनो रथः कल्प्यते । तत्र तमात्मानमृतपं संसारिणं रथिनं रथस्वामिनं विद्धि जानीहि । शरीरं रथमेव तु [1]रथबद्धहयस्थानीयैरिन्द्रियैराकृष्यमाणत्वाच्छरीरस्य । बुद्धिं तु अध्यवसायलक्षणां सारथिं विद्धि बुद्धिनेतृप्रधानत्वाच्छरीरस्य ।

नामल्पप्रज्ञानां सम्भवतीत्याशङ्क्य चेतनत्वात्स्वाभाविकी ज्ञातृत्वयोग्यताऽस्तीत्यभिप्रेत्य तात्पर्यमाह—परापरे इति ॥२॥

तत्रेति । तयोः प्रथमग्रन्थोक्तयोरात्मनोर्मध्ये ॥३॥

समान कहा गया है, उसे हम जानें और अनुष्ठान करने में समर्थ हों तथा भयररित है एवं संसार से पार जाने के इच्छुक ब्रह्मवेत्ताओं का परम आश्रय अविनाशी आत्मा नामक ब्रह्म है, उसे भी हम जानने में समर्थ हो सकें । तात्पर्य यह है कर्मवित् पुरुष का आश्रय अपर ब्रह्म है और ब्रह्मवित् पुरुष का आश्रय परब्रह्म हैं, ये दोनों ही जानने योग्य हैं; इन्हीं दोनों स्वरूपों का उल्लेख पिछले "ऋतं पिबन्तौ" इत्यादि मन्त्र में किया गया है ॥२॥

शरीरादि उपाधि वाला आत्मा का रथादि रूपक

उनमें औपाधिक आत्मा संसारी है, यही विद्या और अविद्या साधनों का अधिकारी है । मोक्ष के लिये विद्या और संसार जन्म के लिए अविद्या का आश्रय लेना है, उन दोनों के प्रति उसके साधन स्वरूप रथ की कल्पना की जाती है । उनमें कर्मफल भोगने वाले उस संसारी आत्मा को रथ का स्वामी जान और अरीर को रथ ही समझ, क्योंकि शरीररूप रथ में बँधे हुए अश्व-स्थानीय इन्द्रियों से यह शरीररूप रथ खींचा जाता है । निश्चय करने वाली बुद्धिवृत्ति को सारथि जाने, रथ में सारथि

---

१. रथबद्धहयेति—अत्र रथबद्धयेति टीकानुरोधी पाठः ।

इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयाꣳस्तेषु गोचरान् ।
आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः ॥४॥

(रथ कल्पना में कुशल विवेकी पुरुष) इन्द्रियों को घोड़े कहते हैं, (उन इन्द्रियों को घोड़े रूप कल्पना करने पर) रूपादि विषयों को उनके मार्ग बतलाते हैं और शरीर, इन्द्रियों एवं मन से युक्त आत्मा को भोक्ता कहते हैं ॥४॥

सारथिनेतृप्रधान इव रथः। सर्वं हि देहगतं कार्यं बुद्धिकर्तव्यमेव प्रायेण। मनः सङ्कल्प-विकल्पादिलक्षणं प्रग्रहं रशनां विद्धि। मनसा हि प्रगृहीतानि श्रोत्रादीनि करणानि प्रवर्तन्ते रशनयेवाश्वाः ॥३॥

इन्द्रियाणि चक्षुरादीनि हयानाहू रथकल्पनाकुशलाः शरीररथाकर्षणसामान्यात्। तेष्विन्द्रियेषु हयत्वेन परिकल्पितेषु गोचरान्मार्गान्रूपादीन्विषयान्विद्धि। आत्मेन्द्रिय-मनोयुक्तं शरीरेन्द्रियमनोभिः सहितं संयुक्तमात्मानं भोक्तेति संसारीत्याहुर्मनीषिणो विवेकिनः। न हि केवलस्याऽऽत्मनो भोक्तृत्वमस्ति बुद्ध्याद्युपाधिकृतमेव तस्य भोक्तृत्वम्। तथा च श्रुत्यन्तरं केवलस्याभोक्तृत्वमेव दर्शयति—"ध्यायतीव लेलायतीव" (बृ० ४-३-७) इत्यादि। एवं च सति वक्ष्यमाणरथकल्पनया वैष्णवस्य पदस्याऽऽत्मतया प्रतिपत्तिरुपपद्यते नान्यथा स्वभावानतिक्रमात् ॥४॥

आत्मा रथस्वामी यः कल्पितस्तस्य भोक्तृत्वं च न स्वाभाविकमित्याह—आत्मेन्द्रियमनो-युक्तमिति। औपाधिके भोक्तृत्वेऽन्वयव्यतिरेकौ शास्त्रं च प्रमाणमित्याह—न हि केवलस्येति। वैष्णवपदप्राप्तिश्रुत्यनुपपत्त्याऽपि न स्वाभाविकं भोक्तृत्वं वाच्यमित्याह—एवं च सतीति ॥४॥

प्रधान होता है। ऐसे ही इस शरीररूप रथ में बुद्धि की प्रधानता मानी गयी है; क्योंकि देह के सभी कार्य प्रायशः बुद्धि के ही कर्तव्य हैं एवं सङ्कल्प-विकल्पादिरूप मन को लगाम समझ; क्योंकि जैसे लगाम से नियन्त्रित हो घोड़े चलते हैं, वैसे ही मन से नियन्त्रित हो श्रोत्रादि इन्द्रियाँ अपने विषयों में प्रवृत्त होते हैं ॥३॥

रथ की कल्पना करने में कुशल पुरुषों ने नेत्रादि इन्द्रियों को घोड़े कहा है; क्योंकि घोड़े रथ को खींचते हैं, इन्द्रियाँ शरीर को खींचती हैं, इस अर्थ में दोनों की समानता है। इस प्रकार उन इन्द्रियों को घोड़े रूप से कल्पना कर लेने पर रूपादि विषयों को उनके विचरने का मार्ग जान तथा शरीर, इन्द्रियाँ और मन के सहित उनसे संयुक्त आत्मा को भोक्ता संसारी रूप में विवेकी पुरुषों ने कहा है क्योंकि शुद्ध आत्मा में भोक्तृत्व नहीं है, उसमें भोक्तृत्व तो बुद्धि आदि उपाधि के कारण ही है। ऐसा ही "ध्यान करता हुआ-सा, चेष्टा करता हुआ-सा" इत्यादि एक अन्य श्रुति भी केवल आत्मा में भोक्तृत्व का अभाव ही बतलाती है। ऐसा होने पर भी आगे कहे जाने वाले रथ कल्पना द्वारा वैष्णव पद की आत्मरूप से प्राप्ति बन सकती है, अन्यथा नहीं। स्वाभाविक भोक्तृत्व मानने पर मोक्ष दशा में भी वह बना रहेगा क्योंकि स्वभाव कभी भी बदलता नहीं ॥४॥

यस्त्वविज्ञानवान्भवत्ययुक्तेन मनसा सदा ।
तस्येन्द्रियाण्यवश्यानि दुष्टाश्वा इव सारथेः ॥५॥
यस्तु विज्ञानवान्भवति युक्तेन मनसा सदा ।
तस्येन्द्रियाणि वश्यानि सदश्वा इव सारथेः ॥६॥

किन्तु जो (बुद्धिरूप सारथी रथ-संचालन में) सर्वथा अकुशल (प्रवृत्ति-निवृत्ति के विवेक से रहित है) और जो असंयत चित्त से युक्त है, उसके अधीन इन्द्रियाँ उसी प्रकार नहीं रहतीं, जसे अन्य सारथि के अधीन दुष्ट घोड़े (काबू में नहीं रहते) ॥५॥

किन्तु जो (पूर्वोक्त सारथी से विपरीत बुद्धिरूप सारथी) कुशल और सदा नियन्त्रित मन से युक्त होता है, उसके (अश्वस्थानीय) अधीन इन्द्रियाँ इस प्रकार रहती हैं जैसे सारथी के अधीन अच्छे घोड़े (काबू में रहते हैं) ॥६॥

तत्रैवं सति यस्तु बुद्ध्याख्यः सारथिविज्ञानवाननिपुणोऽविवेकी प्रवृत्तौ च निवृत्तौ च भवति यथेतरो रथचर्यायामयुक्तेनाप्रगृहीतेनासमाहितेन मनसा प्रग्रहस्थानीयेन सदा युक्तो भवति तस्याकुशलस्याबुद्धिसारथेरिन्द्रियाण्यश्वस्थानीयान्यवश्यान्यशक्यान्यनिवारणीयानि दुष्टाश्वा अदान्ताश्वा इवेतरसारथेर्भवन्ति ॥५॥

यस्तु पुनः पूर्वोक्तविपरीतः सारथिर्भवति विज्ञानवान्निपुणो विवेकवान्युक्तेन मनसा प्रगृहीतमनाः समाहितचित्तः सदा तस्याश्वस्थानीयानीन्द्रियाणि प्रवर्तयितुं निवर्तयितुं वा शक्यानि वश्यानि दान्ताः सदश्वा इवेतरसारथेः ॥६॥

॥५॥
॥६॥

अज्ञानी की विवशता

ऐसा होने पर भी जो बुद्धिरूप सारथि रथ सञ्चालन में अकुशल है, अन्य सारथि के समान इन्द्रियरूप घोड़ों की प्रवृत्ति और निवृत्ति के विवेक से शून्य है, सर्वदा लगाम स्थानीय असमाहित विक्षिप्त चित्त से युक्त है, उस कौशलहीन बुद्धिरूप सारथि के इन्द्रियरूप घोड़े वसे ही बेकाबू हो जाते हैं। जैसे रथादि के हाँकने वाले अन्य सारथि के दुष्ट घोड़े बेकाबू हो जाते हैं अर्थात् जैसे वह सारथि दुष्ठ घोड़ों को कुमार्ग से हटाकर सन्मार्ग में नहीं चला सकता, ऐसे ही इस रथ का चालक बुद्धिरूप सारथि भी दुष्ट इन्द्रियों को कुमार्ग से हटाकर सुमार्ग में नहीं चला सकता ॥५॥

ज्ञानी की स्वाधीनता

किन्तु पूर्वोक्त सारथि से विपरीत जो कुशल बुद्धिरूप सारथि मन को नियन्त्रित रखने वाला समाहित चित्त होता है, उसके अधीन अश्वस्थानीय इन्द्रियाँ वैसे ही स्वाधीन रहती हैं, जैसे सारथि के लिये अच्छे घोड़े; फिर तो वह विवेकशील कुशल सारथि उन इन्द्रियरूप घोड़ों को कुमार्ग से निवृत्त करने और सुमार्ग में प्रवृत्त करने में स्वतन्त्र होता है ॥६॥

तत्र पूर्वोक्तस्याविज्ञानवतो बुद्धिसारथेरिदं फलमाह—

यस्त्वविज्ञानवान्भवत्यमनस्कः सदाऽशुचिः ।
न स तत्पदमाप्नोति सꣳसारं चाधिगच्छति ॥७॥
यस्तु विज्ञानवान्भवति समनस्कः सदा शुचिः ।
स तु तत्पदमाप्नोति यस्माद्भूयो न जायते ॥८॥

परन्तु जो अविज्ञानवान् अनियन्त्रित चित्त और सदा अपवित्र रहने वाला सारथी होता है (ऐसे सारथि के द्वारा) वह रथी उस परम पद को प्राप्त नहीं कर सकता, बल्कि जन्म-मरणरूप संसार को प्राप्त होता है ॥७॥

किन्तु जो द्वितीय विज्ञानवान्-सारथी से युक्त संयतचित्त और सदा पवित्र रहने वाला रथी होता है, वह तो उसी पद को प्राप्त करता है जहाँ से फिर (संसार में) उत्पन्न नहीं होता ॥८॥

यस्त्वविज्ञानवान्भवति । अमनस्कोऽप्रगृहीतमनस्कः स तत एवाशुचिः सदैव । न सारथी तत्पूर्वोक्तमक्षरं यत्परं पदमाप्नोति तेन सारथिना । न केवलं कैवल्यं नाऽप्नोति संसारं च जन्ममरणलक्षणमधिगच्छति ॥७॥

यस्तु द्वितीयो विज्ञानवान्विज्ञानवत्सारथ्युपेतो रथी विद्वानित्येतत् । युक्तमनाः समनस्कः स तत एव सदा शुचिः स तु तत्पदमाप्नोति । यस्मादाप्तात्पदादप्रच्युतः सन्भूयः पुनर्न जायते संसारे ॥८॥

॥७॥
॥८॥

अविवेकी की संसारगति

पहले कहे गये उस अविवेकी बुद्धिरूप सारथि वाले रथ के स्वामी के लिये अब श्रुति यह फल बतलाती है—

किन्तु जो अविज्ञानवान् असंयत चित्त सारथि है, इसीलिये सदा वह अपवित्र भी है, ऐसे सारथि के द्वारा सञ्चालित रथ पर बैठा हुआ जीवात्मारूप रथी उस पूर्वोक्त अविनाशी परम पद को कभी भी प्राप्त नहीं कर सकता। न केवल वह रथी परम पद की प्राप्ति से वञ्चित रहता है, बल्कि जन्म-मरण रूप संसार को भी वह प्राप्त होता है ॥७॥

विवेकी की परमपद प्राप्ति

किन्तु जो दूसरा कुशल सारथि से युक्त समाहित चित्त है, इसीलिये वह सदा पवित्र रहने वाला है, ऐसे सारथि से सञ्चालित रथ पर बैठा हुआ जीवात्मा रूप रथी उसी पद को प्राप्त कर लेता है, जिस प्राप्त पद से च्युत न होकर फिर संसार में वह जन्म नहीं लेता ॥८॥

किं तत्पदमित्याह—

विज्ञानसारथिर्यस्तु मनःप्रग्रहवान्नरः ।
सोऽध्वनः पारमाप्नोति तद्विष्णोः परमं पदम् ॥९॥
इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः ।

जो मनुष्य विवेक बुद्धि वाले सारथि से युक्त और मन रूपी लगाम को अपने अधीन रखने वाला होता है, वह संसार गति से पार होकर व्यापक परमात्मा के परम पद स्थान को प्राप्त कर लेता है ॥९॥

इन्द्रियों की अपेक्षा (उनके आरम्भक भूत सूक्ष्म रूप) विषय श्रेष्ठ हैं, उन विषयों से मन का आरम्भक भूत सूक्ष्म श्रेष्ठ है, मन से भी श्रेष्ठ बुद्धि-शब्द-वाच्य निश्चयादि का आरम्भक भूत सूक्ष्म

विज्ञानसारथिर्यस्तु यो विवेकबुद्धिसारथिः पूर्वोक्तो मनःप्रग्रहवान्प्रगृहीतमनाः समाहितचित्तः सञ्शुचिर्नरो विद्वान्सोऽध्वनः संसारगतेः पारं परमेवाधिगन्तव्यमित्येतदाप्नोति मुच्यते सर्वसंसारबन्धनैः । तद्विष्णोर्व्यापनशीलस्य ब्रह्मणः परमात्मनो वासुदेवाख्यस्य परमं प्रकृष्टं पदं स्थानं सतत्त्वमित्येतद्यदसावाप्नोति विद्वान् ॥९॥

अधुना यत्पदं गन्तव्यं तस्येन्द्रियाणि स्थूलान्यारभ्य सूक्ष्मतारतम्यक्रमेण प्रत्यगात्मतयाऽधिगमः कर्तव्य इत्येवमर्थमिदमारभ्यते—

स्थूलानि तावदिन्द्रियाणि तानि यैरर्थैरात्मप्रकाशनायाऽऽरब्धानि तेभ्य इन्द्रियेभ्यः

॥९॥

वह पद क्या है, इसे बतलाते हैं—

जो पहले कहे गये विद्वान् पुरुष विवेकी बुद्धिरूप सारथि से युक्त है, निगृहीत चित्त एकाग्र मन वाला होने के कारण पवित्र है, वह रथी संसार मार्ग के पार अवश्य प्राप्तव्य परमात्मा को प्राप्त कर ही लेता है, फिर तो सम्पूर्ण संसार बन्धनों से वह मुक्त हो जाता है। उस सर्वव्यापक परब्रह्म परमात्मा विष्णु का जो सर्वोत्कृष्ट स्थान अर्थात् स्वरूप है, उसे वह विद्वान् अवश्य प्राप्त कर लेता है ॥९॥

इन्द्रियादिकों के तारतम्य का वर्णन

जो प्राप्तव्य परमपद है, जिसे अन्तरात्मा रूप में जानना आवश्यक है, उस तत्व को बतलाने के लिये स्थूल इन्द्रियों से प्रारम्भ कर सूक्ष्मत्व तारतम्य प्रतिपादन द्वारा ज्ञान प्राप्त कराने के लिये अब आगे का प्रसङ्ग प्रारम्भ किया जाता है।

जिन शब्द-स्पर्शादि विषयों द्वारा अपने को प्रकाशित करने के लिये इन्द्रियों का निर्माण हुआ है, उन विषयों की अपेक्षा इन्द्रियाँ स्थूल हैं और वे अपञ्चीकृत पञ्चमहाभूत सूक्ष्म विषय अपने कार्य

मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान्परः ॥१०॥

है और ऐसी बुद्धि से महान् आत्मा (महत्तत्त्व) उत्कृष्ट है ॥१०॥

स्वकार्येभ्यस्ते परा ह्यर्थाः सूक्ष्मा महान्तश्च प्रत्यगात्मभूताश्च । तेभ्योऽप्यर्थेभ्यश्च परं सूक्ष्मतरं महत्प्रत्यगात्मभूतं च मनः । मनःशब्दवाच्यं मनस आरम्भकं भूतसूक्ष्मम् । संकल्पविकल्पाद्यारम्भकत्वान्मनसोऽपि परा सूक्ष्मतरा महत्तरा प्रत्यगात्मभूता च बुद्धिर्बुद्धिशब्दवाच्यमध्यवसायाद्यारम्भकं भूतसूक्ष्मम् । बुद्धेरात्मा सर्वप्राणिबुद्धीनां प्रत्यगात्मभूतत्वादात्मा महान्सर्वमहत्त्वादव्यक्ताद्यत्प्रथमं जातं हैरण्यगर्भं तत्त्वं बोधाबोधात्मकं महानात्मा बुद्धेः पर इत्युच्यते ॥१०॥

प्रत्यगात्मभूताश्चेति । प्रत्यगनपायिस्वरूपभूता इत्यर्थः । नन्वर्थेभ्यो मनस आरम्भकं भूतसूक्ष्मं परम् । तस्माद्बुद्ध्यारम्भकं भूतसूक्ष्मं परमिति न युक्तम् । कार्यापेक्षया ह्युपादानमुपचितावयवं व्यापकमनपायिस्वरूपं च प्रसिद्धम् । यथा घटादेर्मृदादिः । न चेह भूतसूक्ष्माणां परस्परकार्यकारणभावे मानमस्ति । सत्यम्, तथाऽपि विषयेन्द्रियव्यवहारस्य मनोधीनतादर्शनान्मनस्तावद्व्यापकं कल्प्यते । तच्च परमार्थत एवाऽऽत्मभूतमिति केषांचिद्भ्रमस्तन्निरासायोक्तं मनःशब्दवाच्यं भूतसूक्ष्ममिति । "अन्नमयं हि सोम्य मनः" (छा. ६-५-४) इत्यादिश्रुतेर्भौतिकत्वावगमादन्नभावाभावाभ्यामुपचयापचयदर्शनाद्भौतिकमेव तत् । तस्य च संकल्पादिलक्षणस्याध्यवसायनियम्यत्वाद्बुद्धि(द्धे?)स्ततः पर[त्व?]मिति । बुद्धिश्चाऽऽत्मेति केषांचिदभिमानस्तदपनयार्थमाह—बुद्धिशब्दवाच्यमिति । करणत्वादिन्द्रियबुद्धेर्भौतिकत्वं सिद्धम् । करणत्वं च स्वबुद्ध्याऽहमुपलभ्य इत्यनुभवात्सिद्धम् । ततो भूतावयवसंस्थानेष्वेवार्थादिषूत्तरोत्तरं परापरत्वं (परत्वं) कल्प्यं परमपुरुषार्थदिदर्शयिषया । न त्वर्थादीनां परत्वं प्रतिपिपादयिषितं प्रयोजनाभावाद्वाक्यभेदप्रसङ्गाच्चेति । सुरनरतिर्यगादिबुद्धीनां विधारकत्वात्सातत्यगमनादात्मोच्यते सूत्रसंज्ञकं हैरण्यगर्भतत्त्वमित्यर्थः । बोधाबोधात्मकमिति । ज्ञानक्रियाशक्त्यात्मकमित्यर्थः । अथवाऽधिकारिपुरुषाभिप्रायेण बोधात्मकत्वमव्यक्तस्याऽऽद्यः परिणाम उपाधिरपञ्चीकृतभूतात्मकस्तेन रूपेणाबोधात्मकत्वं हिरण्यगर्भस्येत्यर्थः ॥१०॥

इन्द्रिय वर्ग की अपेक्षा से सूक्ष्म, महान् एवं प्रत्यगात्म स्वरूप होने के कारण पर हैं उन विषयों से भी पर अर्थात् सूक्ष्म, महान् और प्रत्यगात्म स्वरूप मन है, जिसे यहाँ पर मन शब्द से कहा गया। पर वस्तुतः मन का आरम्भक भूत सूक्ष्म है क्योंकि अपञ्चीकृत पञ्चमहाभूत के मिले हुये सत्त्व अंश से सङ्कल्प-विकल्पात्मक मन का निर्माण हुआ है। मन से भी पर अर्थात् सूक्ष्मतर, महत्तर एवं प्रत्यगात्मभूत बुद्धि है। जिस भूत सूक्ष्म से बुद्धि की रचना हुई है, उस भूत सूक्ष्म को ही बुद्धि शब्द से ही यहाँ पर कहा गया है; उस बुद्धि से भी सम्पूर्ण प्राणियों की बुद्धि का प्रत्यगात्मभूत होने से महान् आत्मा जो सब से पर कहा गया है अर्थात् सर्वप्रथम अव्यक्त से समष्टि बुद्धि अभिमानी हिरण्यगर्भ तत्त्व ही उत्पन्न हुआ है, जो महान् आत्मा (ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति से युक्त होने के कारण) बोध एवं अबोध रूप है, वह व्यष्टि बुद्धि की अपेक्षा से भी पर कहा गया है ॥१०॥

महतः परमव्यक्तमव्यक्तात्पुरुषः परः ।
पुरुषान्न परं किंचित्सा काष्ठा सा परा गतिः ॥११॥

महत्तत्त्व से सूक्ष्मतर (सम्पूर्ण जगत् का बीजभूत) अव्यक्त (अव्याकृत प्रकृति) है और अव्यक्त से सूक्ष्मतर श्रेष्ठ पुरुष से परे अन्य कुछ भी नहीं है। वही पराकाष्ठा है एवं वही सर्वोत्कृष्ट गति है ॥११॥

महतोऽपि परं सूक्ष्मतरं प्रत्यगात्मभूतं सर्वमहत्तरं चाव्यक्तं सर्वस्य जगतो बीजभूतमव्याकृतनामरूपसतत्त्वं सर्वकार्यकारणशक्तिसमाहाररूपमव्याकृताकाशादिनामवाच्यं परमात्मन्योतप्रोतभावेन समाश्रितं वटकणिकायामिव वटवृक्षशक्तिः। तस्मादव्यक्तात्परः सूक्ष्मतरः सर्वकारणत्वात्प्रत्यगात्मत्वाच्च महांश्च, अत एव पुरुषः सर्वपूरणात्। ततोऽन्यस्य परस्य प्रसंगं निवारयन्नाह—पुरुषान्न परं किंचिदिति । यस्मान्नास्ति पुरुषाच्चिन्मात्रघनात्परं किंचिदपि वस्त्वन्तरं तस्मात्सूक्ष्मत्वमहत्त्वप्रत्यगात्मत्वानां सा काष्ठा निष्ठा पर्यवसानम्। अत्र हीन्द्रियेभ्य आरभ्य सूक्ष्मत्वादिपरिसमाप्तिः । अत एव च

प्रलये सर्वकार्यकारणशक्तीनामवस्थानमभ्युपगन्तव्यं शब्दार्थसम्बन्धस्य शक्तिलक्षणस्य नित्यत्वनिर्वाहाय। तासां शक्तीनां समाहारो मायातत्त्वं भवति ब्रह्मणोऽसङ्गत्वादिति शक्तिसमाहाररूपमव्यक्तमित्यर्थः। "तद्धेदं तर्ह्यव्याकृतमासीदेतस्मिन्खल्वक्षरे गार्ग्याकाश ओतश्च प्रोतश्च" "मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्" (श्वे. ४-१०) इत्यादिश्रुतिप्रसिद्धं चाव्यक्तम्। तस्य सांख्याभिमतप्रधानाद्वैलक्षण्यमाह—परमात्मनीति । शक्तित्वेनाद्वितीयत्वाविरोधित्वमाह—वटकणिकायामिवेति । भाविवटवृक्षशक्तिमद्वटबीजं स्वशक्त्या न सद्द्वि(द्वि)तीयं कथ्यते तद्वद्ब्रह्मापि न मायाशक्त्या सद्द्वि(द्वि)तीयम्। सत्त्वादिरूपेण निरूप्यमाणे व्यक्तिरस्य नास्तीत्यव्यक्तम्। ततोऽव्यक्तशब्दादप्यद्वैताविरोधित्वं द्रष्टव्यम्। सर्वस्य प्रपञ्चस्य कारणमव्यक्तम् । तस्य परमात्मपरतन्त्रत्वात्परमात्मन उपचारेण

महत् से भी पर यानी सूक्ष्मतर, प्रत्यगात्मभूत और सबसे महत्तर सम्पूर्ण जगत् का उपादान कारण अव्यक्त है। अव्याकृत नामरूप का सत्ता स्वरूप सम्पूर्ण कार्य-करण शक्ति का समाहाररूप जो तत्त्व है, उसे अव्यक्त, अव्याकृत और आकाशादि नामों से कहा गया है। वह परमात्मा में वैसे ही ओत-प्रोत है, जैसे वट बीज में वट वृक्ष की शक्ति ओत-प्रोत है। उस अव्यक्त की अपेक्षा भी पर अर्थात् सूक्ष्म, महान् एवं प्रत्यगात्म रूप होने के कारण पुरुष श्रेष्ठ है। इसीलिये सब में पूरित होने से उसे पुरुष कहते हैं, उसके सिवा किसी दूसरे उत्कृष्टतर वस्तु का प्रसङ्ग न आ जाय, अतः इस प्रसङ्ग को दूर करते हुए श्रुति कह रही है कि पुरुष से पर दूसरा कुछ भी नहीं है। वस्तुतः सच्चिदानन्दघन मात्र पुरुष से भिन्न कोई वस्तु ही नहीं है। अतएव वह पुरुष ही सूक्ष्मत्व, महत्त्व और प्रत्यगात्मत्व की पराकाष्ठा यानी स्थिति है। इन्द्रियों से प्रारम्भ कर सूक्ष्मत्वादिकों की परिसमाप्ति इस आत्मा में ही होती

एष सर्वेषु भूतेषु गूढोऽऽत्मा न प्रकाशते ।
दृश्यते त्वग्रचया बुद्धचा सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः ॥१२॥

आत्मा सूक्ष्म बुद्धि से ग्राह्य है (ब्रह्मा से लेकर स्तम्बपर्यन्त) सम्पूर्ण भूतों में छिपा हुआ यह आत्मा (किसी को आत्म रूप से) प्रकाशित नहीं होता है। यह तो सूक्ष्मदर्शी पुरुषों द्वारा संस्कृत और सूक्ष्म बुद्धि से ही देखा जाता है ॥१२॥

गन्तृणां सर्वगतिमतां संसारिणां सा परा प्रकृष्टा गतिः। "यद्गत्वा न निवर्तन्ते" (भ. गी. १५-६) इति स्मृतेः ॥११॥

ननु गतिश्चेदागत्याऽपि भवितव्यं कथं "यस्माद्भूयो न जायत" इति। नैष दोषः। सर्वस्य प्रत्यगात्मत्वादवगतिरेव गतिरित्युपचर्यते। प्रत्यगात्मत्वं च दर्शितमिन्द्रियमनोबुद्धिपरत्वेन। यो हि गन्ता सोऽगतमप्रत्यग्रूपं गच्छत्यनात्मभूतं न विपर्ययेण। तथा च श्रुतिः—"अनध्वगा अध्वसु पारयिष्णवः" इत्याद्या। तथा च दर्शयति प्रत्यगात्मत्वं

कारणत्वमुच्यते न त्वव्यक्तवद्विकारितयाऽनादित्वादव्यक्तस्य पारतन्त्र्यं च पृथक्सत्त्वे प्रमाणाभावादात्मन्यतत्रैव सत्तावत्त्वाच्चेत्यर्थः ॥११॥

पारयिष्णव इति। संसारपारं गन्तार इत्यर्थः। न प्रकाशते चेत्तर्हि नास्त्येवेति न वाच्यं लिङ्गदर्शनादित्याह। दर्शनश्रवणादीनि कर्माण्यस्येति तथोक्तः। जीवस्य प्रकाशत्वे ब्रह्मात्मत्वे सत्यपि योऽयं ब्रह्मस्वरूपानवभासः स केनापि प्रतिबन्धेन कृत इति कल्प्यते। तच्च प्रतिबन्धकं न

है। अतएव सम्पूर्ण गतिशील संसारियों की सर्वोत्कृष्ट गति परमात्मा ही है। इसी बात को "जिसे प्राप्त कर फिर लौटते नहीं" इस गीता स्मृति से भी कहा गया है ॥११॥

आत्मा सुख-समृद्धि से ग्रहण योग्य है

शंका :—यदि जीव की परमात्मा में गति है, तो वहाँ से अगति भी होनी ही चाहिए। फिर यह कैसे कहा गया कि जिसके पास जाकर फिर जीव जन्म नहीं लेता ?

समाधान :—यह दोष नहीं हैं; क्योंकि सबका प्रत्यागात्मरूप होने के कारण परमात्मा सदा सबको प्राप्त है। अतः उसके ज्ञान को ही औपचारिक दृष्टि से गति कहा गया है। वैसे ही इन्द्रिय, मन और बुद्धि ने आत्मा में परत्व दिखला कर उसका प्रत्यगात्मत्व भी सिद्ध किया क्योंकि जो जाने वाला है, वह अपने से भिन्न अनात्मरूप अप्राप्त स्थान की ओर ही जाया करता है। इससे विपरीत अपनी ही ओर आना-जाना नहीं बनता। इसे दूसरी श्रुति भी बतलाती है कि संसार मार्ग से पार होने की इच्छा वाले मुमुक्षु पुरुष मार्गरहित होते हैं एवं अग्रिम श्रुति भी पुरुष में सबके प्रत्यगात्मत्व को दिखलाती है।

यह प्रकृत पुरुष ब्रह्मा से लेकर स्तम्बपर्यन्त सम्पूर्ण भूतों में छिपा हुआ (उपाधि का आश्रय

सर्वस्य । एष पुरुषः सर्वेषु ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तेषु भूतेषु गूढः संवृतो दर्शनश्रवणादिकर्माऽविद्यामायाछन्नोऽत एवाऽऽत्मा न प्रकाशत आत्मत्वेन कस्यचित् । अहो ! अतिगम्भीरा दुरवगाह्या विचित्रा माया चेयं यदयं सर्वो जन्तुः परमार्थतः परमार्थसतत्त्वोऽप्येवं बोध्यमानोऽहं परमात्मेति न गृह्णात्यनात्मानं देहेन्द्रियादिसंघातमात्मनो दृश्यमानमपि घटादिवदात्मत्वेनाहममुष्य पुत्र इत्यनुच्यमानोऽपि गृह्णाति । नूनं परस्यैव मायया मोमुह्यमानः सर्वो लोको बंभ्रमीति । तथा च स्मरणं—"नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः" (गी० ७-२५)इत्यादि । ननु विरुद्धमिदमुच्यते 'मत्वा धीरो न शोचति' । 'न प्रकाशत' इति च । नैतदेवम् । असंस्कृतबुद्धेरविज्ञेयत्वान्न प्रकाशत इत्युक्तम् । दृश्यते तु संस्कृतयाऽग्र्ययाऽग्रमिवाग्र्या तयैकाग्रतयोपेतयेत्येतत्सूक्ष्मया सूक्ष्मवस्तुनिरूपणपरया । कैः ? सूक्ष्मदर्शिभिरिन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था इत्यादिप्रकारेण सूक्ष्मतापारम्पर्यदर्शनेन परं सूक्ष्मं द्रष्टुं शीलं येषां ते सूक्ष्मदर्शिनस्तैः सूक्ष्मदर्शिभिः पण्डितैरित्येतत् ॥१२॥

वस्तु ज्ञानान्मुक्तिश्रुतेर्बाधप्रसङ्गात् । ततोऽविद्यैव प्रतिबन्धिकेत्याह—अविद्यामायाच्छन्न इति । निदिध्यासनप्रचयेनैकाग्र्यमापन्नमन्तःकरणं यदा सहकारि संपाद्यते तदा तत्सहकृता महावाक्यादहं ब्रह्मास्मीति या बुद्धिवृत्तिरुत्पद्यते तस्यामभिव्यक्तो ब्रह्मभाव इति स्वतोऽपरोक्षतया व्यवह्रियत इति दृश्यत्वमुपचर्यते । यो हि यत्प्रयुक्तव्यवहारः स तद्दृश्य इति प्रसिद्धम् ॥१२॥

लेकर) दर्शन-श्रवण आदि कर्म करने वाला तथा अविद्या रूप माया से आच्छन्न है । अतः सबका अन्तरात्मा स्वरूप होता हुआ भी 'यही मैं हूँ' इस रूप में किसी के प्रति प्रकाशित नहीं होता । अहो ! यह माया अति गम्भीर, दुःखग्राह्य और विचित्र है, जिससे कि ये संसार के सभी जीव वस्तुतः परमार्थ स्वरूप होते हुए भी शास्त्र एवं आचार्य के द्वारा वैसा बोध कराये जाने पर भी 'मैं परमात्मा हूँ' इस तत्त्व को ग्रहण नहीं कर पाते । इसके विपरीत देह इन्द्रियादि संघात घटादि दृश्य के समान आत्मा के दृश्य होते हुए भी किसी के उपदेश किये हुए बिना ही देहात्मबुद्धि कर 'मैं उनका पुत्र हूँ' इत्यादि प्रकार से आत्मबुद्धि करते रहते हैं । निःसन्देह उस परमात्मा की माया से ही यह सारा संसार अत्यन्त विभ्रान्त हो रहा है । ऐसा ही "योगमाया से अच्छी प्रकार आवृत्त हुआ सबके सामने मैं प्रकाशित होता हुआ" यह गीता स्मृति भी है ।

शंका :—"उसे जानकर धीर पुरुष शोक नहीं करता," "वह गूढ़ आत्मा प्रकाशित नहीं होता" इस प्रकार यह परस्पर विरुद्ध कैसे कहा गया है ?

समाधान :—ऐसा कहना ठीक नहीं है; क्योंकि मलीन बुद्धि पुरुष के लिए अविज्ञेय होने के कारण वह प्रकाशित नहीं होता, ऐसा कहा गया है और संस्कारयुक्त पैनी बुद्धि से जानने योग्य होने के कारण 'दृश्यते' कहा गया है । सूक्ष्म वस्तु के ग्रहण करने में तत्पर एकाग्रता से युक्त बुद्धि से आत्मा का ग्रहण सम्भव है; इस पर भी 'इन्द्रियों से उनके आरम्भक विषय सूक्ष्म हैं' इत्यादि रूप से सूक्ष्मता की परम्परा का विचार करते रहने के कारण जिनका स्वभाव सूक्ष्म वस्तु को देखने योग्य हो गया है, ऐसे सूक्ष्मदर्शी पण्डितों को ही वह आत्मा दिखलाई देता है, यही इसका तात्पर्य है ॥१२॥

यच्छेद्वाङ्मनसी प्राज्ञस्तद्यच्छेज्ज्ञान आत्मनि ।
ज्ञानमात्मनि महति नियच्छेत्तद्यच्छेच्छान्त आत्मनि ॥१३॥
उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत । क्षुरस्य

विवेकी पुरुष वाणी आदि सभी इन्द्रियों को मन में लीन करे, उस मन का प्रकाश स्वरूप बुद्धि को महत्तत्त्व में और महत्तत्त्व को (निर्विशेष, निर्विकार सर्व बुद्धि के साक्षी) शान्त आत्मा में लीन करे ॥१३॥

(अरे ! अनादि अविद्या में सोये हुए जीवों !) उठो, (सम्पूर्ण अनर्थों की बीजभूत अज्ञान निद्रा से) जागो और श्रेष्ठ पुरुषों के पास जाकर (परमात्मतत्त्व को आत्मरूप से) अच्छी प्रकार

तत्प्रतिपत्त्युपायमाह—

यच्छेन्नियच्छेदुपसंहरेत्प्राज्ञो विवेकी । किम् ? वाग्वाचम् । वागत्रोपलक्षणार्था सर्वेषामिन्द्रियाणाम् । क्व ? मनसी मनसीति च्छान्दसं दैर्घ्यम् । तच्च मनो यच्छेज्ज्ञाने प्रकाशस्वरूपे बुद्धावात्मनि । बुद्धिर्हि मनआदिकरणान्याप्नोतीत्यात्मा प्रत्यक्तेषाम् । ज्ञानं बुद्धिमात्मनि महति प्रथमजे नियच्छेत् । प्रथमजवत्स्वच्छस्वभावकमात्मनो विज्ञानमापादयेदित्यर्थः । तं च महान्तमात्मानं यच्छेच्छान्ते सर्वविशेषप्रत्यस्तमित-रूपेऽविक्रिये सर्वान्तरे सर्वबुद्धिप्रत्ययसाक्षिणि मुख्य आत्मनि ॥१३॥

एवं पुरुष आत्मनि सर्वं प्रविलाप्य नामरूपकर्मत्रयं यन्मिथ्याज्ञानविजृम्भितं क्रिया-

---

॥१३॥

क्रमेणैवं विषयदोषदर्शनेनाभ्यासेन च बाह्यकरणान्तःकरणव्यापारप्रविलापने सति प्रविलापनं कर्तुः कः पुरुषार्थः सिध्यतीत्यत आह—एवं पुरुष इत्यादिना ॥१४॥

लय चिन्तन प्रकार

अब उसकी प्राप्ति का उपाय बतलाते हैं—

विवेकी पुरुष उपसंहार करे किसका ? वाणी का। यहाँ पर वाक् शब्द सम्पूर्ण इन्द्रियों का उपलक्षण करने के लिए आया है। किसमें उपसंहार करे ? मन में। यहाँ पर 'मनसी' इस पद में ह्रस्व इकार के स्थान पर दीर्घ ईकार का प्रयोग वैदिक है। फिर उस मन को प्रकाशस्वरूप बुद्धि में लीन करे। मन और इन्द्रियों में व्याप्त होने के कारण बुद्धि ही उनका आत्मा यानी प्रत्यक् स्वरूप है, उसके चिदाभास युक्त होने के कारण ज्ञानस्वरूप बुद्धि को प्रथम विकार महान् आत्मा में लीन करे। तात्पर्य यह है कि प्रथम उत्पन्न महत्तत्त्व जैसा स्वच्छ है, वैसा ही आत्मा का स्वच्छ स्वभाव विज्ञान प्राप्त करे। पुनः उस महान् आत्मा को सम्पूर्ण विशेषणों से रहित निर्विकार, सर्वान्तर एवं बुद्धि की सम्पूर्ण वृत्तियों का साक्षीस्वरूप शान्त आत्मा में लीन करे। यही आत्मा मुख्य है और सर्वान्तर है ॥१३॥

धारा निशिता दुरत्यया दुर्गं पथस्तत्कवयो वदन्ति ॥१४॥

जानो । जैसे पैनी की हुई छुरे की धार तीक्ष्ण और दुस्तर होती है, तत्त्वज्ञानी पुरुष उस मार्ग को वैसे ही दुष्प्राप्य बतलाते हैं ॥१४॥

कारकफललक्षणं स्वात्मयाथात्म्यज्ञानेन मरीच्युदकरज्जुसर्पगगनमलानीव मरीचिरज्जुगगनस्वरूपदर्शनेनैव स्वस्थः प्रशान्तात्मा कृतकृत्यो भवति यतोऽतस्तद्दर्शनार्थमनाद्यविद्याप्रसुप्ता उत्तिष्ठत, हे जन्तवः! आत्मज्ञानाभिमुखा भवत, जाग्रताज्ञाननिद्राया घोररूपायाः सर्वानर्थबीजभूतायाः क्षयं कुरुत । कथम् ? प्राप्योपगम्य वरान्प्रकृष्टानाचार्यांस्तद्विदस्तदुपदिष्टं सर्वान्तरमात्मानमहमस्मीति निबोधतावगच्छत । न ह्युपेक्षितव्यमिति श्रुतिरनुकम्पयाऽऽह मातृवत्, अतिसूक्ष्मबुद्धिविषयत्वाज्ज्ञेयस्य । किमिव सूक्ष्मबुद्धिरित्युच्यते । क्षुरस्य धाराऽग्रं निशिता तीक्ष्णीकृता दुरत्यया दुःखेनात्ययो यस्याः सा दुरत्यया । यथा सा पद्भ्यां दुर्गमनीया तथा दुर्गं दुःसंपाद्यमित्येतत्पथः पन्थानं तत्त्वज्ञानलक्षणं मार्गं कवयो मेधाविनो वदन्ति ज्ञेयस्यातिसूक्ष्मत्वात्तद्विषयस्य ज्ञानमार्गस्य दुःसंपाद्यत्वं वदन्तीत्यभिप्रायः ॥१४॥

उद्‌बोधन

मृगजल, रज्जुसर्प और आकाश मालिन्यों का बाध उनके अधिष्ठान मृगतृष्णिका रज्जु आकाश के स्वरूप दर्शन से जिस प्रकार हो जाता है, उसी प्रकार मिथ्या ज्ञान से प्रतीत होने वाले समस्त नाम रूप और कर्मात्मक प्रपञ्च जो क्रिया, कारक एवं फलरूप है, उनका आत्मतत्त्व के यथार्थ ज्ञान द्वारा पुरुष आत्मा में लय हो जाता है। फिर तो वह मनुष्य स्वस्थ, प्रसन्न चित्त एवं कृत-कृत्य हो जाता है, जबकि ऐसी बात है। इसीलिए सर्वप्रपञ्च के अधिष्ठान परमात्मतत्त्व साक्षात्कार कराने के लिए श्रुति उद्‌बोधन करती —हे अनादि अविद्या में सोये जन्तुओ! उठो अर्थात् आत्मज्ञान के लिये अभिमुख हो जाओ एवं घोर अज्ञान निद्रा से जाग जाओ अर्थात् अनर्थों की बीजभूत उस अज्ञान निद्रा का विनाश करो।

कैसे ? उत्कृष्ट आत्मज्ञानी आचार्यों के पास उपसत्तिपूर्वक पहुँच कर उनके उपदेश किये हुये सर्वनियन्ता परमात्मा को 'यही मैं हूँ', इस प्रकार जानो, उसकी उपेक्षा न करो। ऐसा माता के समान अनुकम्पा करती हुयी श्रुति कह रही है; क्योंकि यह ज्ञेय पदार्थ परमात्मा अत्यन्त सूक्ष्म बुद्धि का ही विषय है। कैसे सूक्ष्म बुद्धि का विषय परमात्मा है ? इस पर श्रुति कहती है—जिस प्रकार पैनी की हुयी छुरे की धार के अग्रभाग को पार करना अत्यन्त दुष्कर है, कठिनता से जिसे पार किया जा सके, उसी को दुरत्यय कहते हैं। जिस प्रकार उस पर पैरों से चलना अत्यन्त कठिन है, उसी प्रकार आत्मज्ञानरूप मार्ग भी बड़ा दुर्गम है, ऐसा मेधावी पुरुष कहते हैं। तात्पर्य यह है कि ज्ञेयतत्त्व अत्यन्त सूक्ष्म है। इसीलिये उससे सम्बन्धित ज्ञानमार्ग को भी मेधावी कवि दुष्प्राप्य कहते हैं। अतः इस मार्ग में अत्यन्त सावधानी के साथ प्रमादरहित हो चलना चाहिये ॥१४॥

अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथाऽरसं नित्यमगन्धवच्च यत् । अनाद्यनन्तं महतः परं ध्रुवं निचाय्य तन्मृत्युमुखात्प्रमुच्यते ॥१५॥

जो शब्द से रहित, स्पर्श से रहित, रूप तथा रस-हीन, नित्य एवं गन्ध रहित है, अतएव वह अविनाशी है। जो अनादि, अनन्त, महत्तत्त्व से भी परे (सर्वभूत साक्षी) और निश्चल है उस आत्म-तत्त्व को अपरोक्ष रूप से जानकर जीव (अविद्या, काम और कर्म रूप) मृत्यु के पञ्जे से छूट जाता है ॥१५॥

तत्कथमतिसूक्ष्मत्वं ज्ञेयस्येत्युच्यते । स्थूला तावदियं मेदिनी शब्दस्पर्शरूपरसगन्धोपचिता सर्वेन्द्रियविषयभूता तथा शरीरम् । तत्रैकैकगुणापकर्षेण गन्धादीनां सूक्ष्मत्वमहत्त्वविशुद्धत्वनित्यत्वादितारतम्यं दृष्टमबादिषु यावदाकाशमिति ते गन्धादयः सर्व एव स्थूलत्वादिकारणाः शब्दान्ता यत्र न सन्ति किमु तस्य सूक्ष्मत्वादिनिरतिशयत्वं वक्तव्यमित्येतद्दर्शयति श्रुतिः —

अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथाऽरसं नित्यमगन्धवच्च यत् । एतद्व्याख्यातं ब्रह्माव्ययम् । यद्धि शब्दादिमत्तद्व्येतीदं त्वशब्दादिमत्त्वादव्ययं न व्येति न क्षीयते, अत एव

यावद्यावद्गुणापचयस्तावत्तावत्तारतम्येन सौक्ष्म्यं दृष्टं पृथिव्यादिषु, परमात्मनि तु गुणानामत्यन्ताभावान्निरतिशयं सौक्ष्म्यं सिध्यतीत्याह—स्थूला तावदित्यादिना ॥१५॥

निर्विशेष आत्मज्ञान ही अमरत्व का साधन है

उस ज्ञेय की अत्यन्त सूक्ष्मता कैसी है? ऐसी आकांक्षा होने पर श्रुति कहती है कि शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध इन पाँचों विषयों से वृद्धि को प्राप्त हुई तथा सम्पूर्ण इन्द्रियों की विषयभूता पृथिवी स्थूल है। ठीक ऐसा ही शरीर है, उसमें गन्धादि गुणों में से एक-एक का क्षय कर देने पर जल से लेकर आकाशपर्यन्त भूतचतुष्टय में सूक्ष्मत्व, महत्त्व, विशुद्धत्व और नित्यत्वादि का तारतम्य देखा गया है। ये शब्दादि गुण स्वरूपतः स्थूल हैं और अपने आश्रय स्थूलता के द्योतक हैं। अतः स्थूल होने के कारण ये सम्पूर्ण विकार जिसमें नहीं हैं, उसके सूक्ष्मत्वादि निरतिशय के सम्बन्ध में तो कहना ही क्या है, यही अग्रिम श्रुति बतलाती है जो न शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध स्वरूप है और न इनसे युक्त ही है। अतएव वह अव्यय और नित्य भी है। इस प्रकार जिसकी व्याख्या की गयी है, वह ब्रह्म अविनाशी है; क्योंकि जो शब्दादि से युक्त होता है, वह नाशवान् होता है; किन्तु वह ब्रह्मतत्त्व शब्दादि गुणों से युक्त न होने के कारण अविनाशी है। इसीलिये यह नित्य भी है; क्योंकि जो नाशवान् है, वह अनित्य है। इस ब्रह्म का व्यय नहीं होता, इसीलिये यह नित्य है। जिसका आदि-कारण विद्यमान् नहीं है, ऐसा होने से भी वह नित्य है; क्योंकि जो पदार्थ आदि वाला होता है, वह कार्य होने से

नाचिकेतमुपाख्यानं मृत्युप्रोक्तँ सनातनम् ।
उक्त्वा श्रुत्वा च मेधावी ब्रह्मलोके महीयते ॥१६॥

नचिकेता द्वारा प्राप्त किये तथा मृत्यु से कहे हुए (इस तीन वल्ली वाले उपाख्यान रूप) सनातन विज्ञान को कह और ब्राह्मणों से सुनकर बुद्धिमान् पुरुष ब्रह्मलोक में महिमान्वित होता है ॥१६॥

च नित्यं यद्धि व्येति तदनित्यमिदं तु न व्येत्यतो नित्यम् । इतश्च नित्यमनाद्यविद्यमान आदिः कारणमस्य तदिदमनादि । यद्ध्यादिमत्तत्कार्यत्वादनित्यं कारणे प्रलीयते यथा पृथिव्यादि । इदं तु सर्वकारणत्वादकार्यमकार्यत्वान्नित्यं न तस्य कारणमस्ति यस्मिन्प्रलीयते । तथाऽनन्तमविद्यमानोऽन्तः कार्यमस्य तदनन्तम् । यथा कदल्यादेः फलादिकार्योत्पादनेनाप्यनित्यत्वं दृष्टं न च तथाऽप्यन्तवत्त्वं ब्रह्मणोऽतोऽपि नित्यम् । महतो महत्तत्त्वाद्बुद्ध्याख्यात्परं विलक्षणं नित्यविज्ञप्तिस्वरूपत्वात्सर्वसाक्षि हि सर्वभूतात्मत्वाद्ब्रह्म । उक्तं ह्येष सर्वेषु भूतेष्वित्यादि । ध्रुवं च कूटस्थं नित्यं न पृथिव्यादिवदापेक्षिकं नित्यत्वम् । तदेवंभूतं ब्रह्मात्मानं निचाय्यावगम्य तमात्मानं मृत्युमुखान्मृत्युगोचरादविद्याकामकर्मलक्षणात्प्रमुच्यते वियुज्यते ॥१५॥

प्रस्तुतविज्ञानस्तुत्यर्थमाह श्रुतिः—

नाचिकेतं नचिकेतसा प्राप्तं नाचिकेतं मृत्युना प्रोक्तं मृत्युप्रोक्तमिदमाख्यानमुपाख्यानं वल्लीत्रयलक्षणं सनातनं चिरंतनं वैदिकत्वादुक्त्वा ब्राह्मणेभ्यः श्रुत्वाऽऽ-

---

अनित्य भी होता है और काल पाकर अपने कारण में लीन हो जाता है । जैसे उत्पत्तिशील अनित्य पृथिव्यादि का विलय इनके कारणों में होता देखा गया है किन्तु यह आत्मा सबका कारण होने से किसी का भी कार्य नहीं है । इसीलिये यह नित्य है, इसका कोई कारण नहीं कि जिसमें लीन हो सके ।

वैसे ही यह आत्मा अनन्त भी है, जिसका कभी अन्त नहीं होता, उसे अनन्त कहते हैं । जैसे फलादि कार्य उत्पन्न करने के कारण भी केले आदि पौधों की अनित्यता देखी गयी है किन्तु ब्रह्म का वैसा अन्तवत्त्व नहीं देखा गया । इसीलिये भी ब्रह्म नित्य है । नित्य चैतन्यस्वरूप होने से वह ब्रह्म बुद्धि नामक महत्तत्त्व से भी विलक्षण है; क्योंकि समस्त भूतों का आत्मा होने के कारण ब्रह्म सबका साक्षी है । यह बात पिछले "सम्पूर्ण भूतों में छिपा हुआ परमात्मा दिखाई नहीं पड़ता" इत्यादि मन्त्र में कही गई है । वैसे ही वह ब्रह्म ध्रुव यानी कूटस्थ नित्य है, पृथिव्यादि के समान उसमें आपेक्षिक नित्यता नहीं है । इस प्रकार के ब्रह्मस्वरूप आत्मा को जानकर पुरुष अविद्या, काम एवं कर्मरूप मृत्यु के पञ्जे से सर्वथा छूट जाता है ॥१५॥

प्रकृत आत्मविज्ञान की महिमा

अब प्रकृत विज्ञान की स्तुति के लिये श्रुति कहती है—यमराज के द्वारा कहे हुए और नचिकेता द्वारा प्राप्त किये गये इस तीन वल्लियों वाले वैदिक होने के कारण सनातन उपाख्यान को

य इमं परमं गुह्यं श्रावयेद्ब्रह्मसंसदि । प्रयतः श्राद्धकाले वा तदानन्त्याय कल्पते तदानन्त्याय कल्पत इति ॥१७॥

इति काठकोपनिषदि प्रथमाध्याये तृतीया वल्ली समाप्ता ॥३॥

इति काठकोपनिषदि प्रथमोऽध्यायः समाप्तः ॥१॥

जो कोई पुरुष इस परम गोपनीय ग्रन्थ को पवित्र हो ब्राह्मणों की सभा में अथवा श्राद्धकाल में सुनता है, उसका वह श्राद्ध अनन्त फल वाला होता है ॥१७॥

॥ इति तृतीयवल्ली, प्रथमोऽध्यायः समाप्तः ॥

चार्येभ्यो मेधावी ब्रह्मैव लोको ब्रह्मलोकस्तस्मिन्महीयत आत्मभूत उपास्यो भवतीत्यर्थः ॥१६॥

यः कश्चिदिमं ग्रन्थं परमं प्रकृष्टं गुह्यं गोप्यं श्रावयेद्ग्रन्थतोऽर्थतश्च ब्राह्मणानां संसदि ब्रह्मसंसदि प्रयतः शुचिर्भूत्वा श्राद्धकाले वा श्रावयेद्भुञ्जानानां तच्छ्राद्धमस्याऽऽनन्त्यायानन्तफलाय कल्पते संपद्यते । द्विर्वचनमध्यायपरिसमाप्त्यर्थम् ॥१७॥

इति काठकोपनिषदि प्रथमाध्याये तृतीयवल्लीभाष्यं समाप्तम् ॥३॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यश्रीमदाचार्यश्रीशङ्करभगवतः कृतौ काठकोपनिषद्भाष्ये प्रथमोऽध्यायः समाप्तः ॥१॥

॥१६॥ ॥१७॥

इति काठकोपनिषद्भाष्यटीकायां प्रथमाध्याये तृतीया वल्ली समाप्ता ॥३॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमच्छुद्धानन्दपूज्यपादशिष्यानन्दज्ञानविरचिते काठकोपनिषद्भाष्यव्याख्याने प्रथमोऽध्यायः समाप्तः ॥१॥

ब्राह्मणों के समक्ष कहकर एवं आचार्यों से सुनकर ज्ञानी पुरुष ब्रह्मस्वरूप ब्रह्मलोक में महिमान्वित होता है अर्थात् वह तत्त्वज्ञानी सबका आत्मस्वरूप होने के कारण सभी का उपास्य हो जाता है ॥१६॥

जो कोई अधिकारी पुरुष इस प्रकृष्ट गोपनीय ग्रन्थ को पवित्र होकर ब्राह्मणों की सभा में अथवा श्राद्ध के समय भोजन करने के लिये बैठे हुए ब्राह्मणों के समक्ष पाठमात्र करता है या अर्थ करते हुए सुनाता है, उसका वह श्राद्ध अनन्त फल वाला हो जाता है। यहाँ पर अध्याय की समाप्ति के लिये "तदानन्त्याय कल्पते" इस वाक्य को दो बार पढ़ा गया ॥१७॥

इति प्रथम अध्याय की तृतीय वल्ली समाप्त हो गई ।

कठोपनिषद् का प्रथम अध्याय भी समाप्त हो गया ।

—❀—

अथ द्वितीयाध्याये प्रथमवल्ली।

पराञ्चि खानि व्यतृणत्स्वयंभूस्तस्मात्पराङ्पश्यति
नान्तरात्मन् । कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदा-
वृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन् ॥१॥

स्वयंभू (परमेश्वर) ने (शब्दादि विषयों को प्रकाशित करने के लिये प्रवृत्त होने वाली) इन्द्रियों को बहिमुं ख करके उनका हनन कर दिया है। अतः (जीव सर्वदा) अनात्मभूत बाह्य विषयों को ही देखता है, अन्तरात्मा को नहीं। जिसने अमरत्व की इच्छा करते हुए (नदी को उसके प्रवाह के विपरीत दिशा में फेरने के समान) अपनी इन्द्रियों को रोक लिया है, ऐसा कोई विवेकी पुरुष ही अन्तरात्मा को देख पाता है ॥१॥

एष सर्वेषु भूतेषु गूढोऽऽत्मा न प्रकाशते दृश्यते त्वग्रचया बुद्धच त्युक्तम्। कः पुनः प्रतिबन्धोऽग्रचाया[1] बुद्धे र्येन[2] तदभावादात्मा[3] न दृश्यत इति तददर्शनकारण-प्रदर्शनार्था वल्ल्यारभ्यते। विज्ञाते हि श्रेयःप्रतिबन्धकारणे तदपनयनाय यत्न आरब्धुं शक्यते नान्यथेति—

पराञ्चि परागञ्चन्ति गच्छन्तीति खानि तदुपलक्षितानि श्रोत्रादीनीन्द्रियाणि

अनादिरविद्याप्रतिबन्धः प्रागुक्तोऽधुनाऽऽगन्तुकप्रतिबन्धदर्शनायोत्तरवल्लयारम्भ इति सम्बन्ध-माह—एष सर्वेष्वित्यादिना। यदीन्द्रियाण्यन्तर्मुखानि(णि) स्युस्तदा तान्यात्मनिष्ठतयाऽमृतत्व-मीयुरत इन्द्रियाणि बहिर्मुखानि(ण) सृष्टानीति यत्तत्तेषां हननमेव कृतमित्यर्थः। आप्लृ व्याप्ताविति

इन्द्रियों की वहिर्मुखता आत्मदर्शन में बाधक

"सम्पूर्ण भूतों में छिपा हुआ वह आत्मा प्रकाशित नहीं होता, वह तो केवल सूक्ष्म एवं पैनी की हुई बुद्धि से ही देखा जा सकता है" ऐसा पिछले प्रसङ्ग में कहा गया है। इस पर प्रश्न यह होता है कि पूर्वोक्त पैनी की हुई बुद्धि का प्रतिबन्धक कौन है? जिस प्रतिबन्धक के कारण बुद्धि एकाग्र नहीं हो पाती, फलतः आत्मा दिखाई नहीं पड़ता। अतः आत्मदर्शन में प्रतिबन्ध के कारण को दिखलाने के लिये यह वल्ली आरम्भ की जा रही है; क्योंकि श्रेय प्रतिबन्ध कारण को जान करके ही उसको निवृत्ति का प्रयत्न प्रारम्भ किया जा सकता है, अन्यथा नहीं।

न्द्रियगोलकों को 'ख' शब्द से कहा गया है, उनसे उपलक्षित श्रोत्रादि इन्द्रियों को यहाँ पर

---

१. अग्रचाया बुद्धेरिति बुद्धेरग्रचतायामित्यर्थः। बुद्धेरेकाग्रतोत्पत्ता(अग्रचबुद्धच त्पत्तौ)विति यावत्।
२. येन—प्रतिबन्धेन। ३. तदभावात्—अग्रचबुद्धचभावादित्यर्थः।

खानीत्युच्यन्ते । तानि पराञ्च्येव शब्दादिविषयप्रकाशनाय प्रवर्तन्ते । यस्मादेवं स्वाभाविकानि तानि व्यतृणद्धिंसितवान्हननं कृतवानित्यर्थः । कोऽसौ ? स्वयंभूः परमेश्वरः स्वयमेव स्वतन्त्रो भवति सर्वदा न परतन्त्र इति । तस्मात्पराङ्पराग्रूपाननात्मभूताञ्शब्दादीन्पश्यत्युपलभत उपलब्धा, नान्तरात्मन्नान्तरात्मानमित्यर्थः । एवं स्वभावेऽपि सति लोकस्य कश्चिन्नद्याः प्रतिस्रोतः प्रवर्तनमिव धीरो धीमान्विवेकी प्रत्यगात्मानं प्रत्यक्चासावात्मा चेति प्रत्यगात्मा । प्रतीच्येवाऽऽत्मशब्दो रूढो लोके नान्यस्मिन् । व्युत्पत्तिपक्षेऽपि तत्रैवाऽऽत्मशब्दो वर्तते ।

"यच्चाऽऽप्नोति यदादत्ते यच्चात्ति विषयानिह ।
यच्चास्य संततो भावस्तस्मादात्मेति कीर्त्यते ॥"

इत्यात्मशब्दव्युत्पत्तिस्मरणात् । तं प्रत्यगात्मानं स्वं स्वभावमैक्षदपश्यत्पश्यतीत्यर्थः । छन्दसि कालानियमात् । कथं पश्यतीत्युच्यते । आवृत्तचक्षुरावृत्तं व्यावृत्तं

धात्वर्थानुसारेण व्यापक आत्मशब्दार्थः । यद्यस्मादादत्ते संहरति स्वात्मन्येव सर्वमिति जगदुपादानं लभ्यते । विषयानत्तीत्यात्मेति व्युत्पत्त्या स्वचैतन्याभासेनोपलब्धृत्वमात्मशब्दार्थः । येन कारणेनास्याऽऽत्मनः संततो निरन्तरो भावः कल्पितस्याधिष्ठानसत्तामन्तरेण सत्ताभावाद्यथा रज्ज्वामध्यस्ते

'खानि' शब्द से कहते हैं। ये श्रोत्रादि इन्द्रियाँ अपने शब्दादि विषयों को प्रकाशित करने के लिये सदा बाहर की ओर भागती रहती हैं। इसीलिये इन्हें बहिर्मुख एवं बाहर की ओर भागने वाली कहा गया है। जबकि ऐसी बात है, अतः स्वभाव से बहिर्मुख इन्द्रियों को हिंसित कर दिया है। उनका हनन करने वाला वह हैं कौन ? ऐसी आकांक्षा होने पर श्रुति उसे स्वयंभू शब्द से कहती है, जो स्वतः ही सर्वदा स्वतन्त्र रहता है, किसी के परतन्त्र नहीं, ऐसे परमात्मा को स्वयंभू शब्द से श्रुति ने कहा है। इसीलिये वह उपलब्धा जीवात्मा पूर्वोक्त बहिर्मुख इन्द्रियों द्वारा सदा बाह्य अनात्मभूत शब्दादि विषयों को ही देखा करता है, अन्तरात्मा को नहीं देखता।

यद्यपि लोक का स्वभाव ऐसा ही है, फिर भी धीर विवेकी पुरुष ही नदी के प्रवाह को विपरीत दिशा में मोड़ने के समान श्रोत्रादि इन्द्रियों को शब्दादि विषयों से हटा कर पूर्वोक्त अपने प्रत्यगात्मा को देखता है, जो सम्पूर्ण पदार्थों के अन्तःस्वरूप होकर आत्मा हो, उसीको प्रत्यगात्मा भी कहते हैं; क्योंकि लोक में आत्म शब्द प्रत्यगर्थ में ही रूढ़ है; अन्य अर्थ में नहीं। व्युत्पत्ति पक्ष में भी आत्म शब्द की प्रवृत्ति उस प्रत्यगर्थ में ही देखी जाती है। जैसा कि "क्योंकि यह सबको व्याप्त करता है, ग्रहण करता है, इस लोक में विषयों को भोगता है तथा इसका सद्भाव सदा विद्यमान है, इसीलिये यह आत्मा कहा जाता है" इस प्रकार आत्मशब्द की व्युत्पत्ति के सम्बन्ध में स्मृति है, उस अपने स्वरूप प्रत्यगात्मा को देखता है। छन्द में काल का नियम न होने के कारण यहां पर वर्तमान अर्थ में भूतकालिक ऐक्षत् क्रिया का प्रयोग किया गया है। वह कैसे देखता है ? इस पर कहते हैं—जिसने अपने चक्षुरादि इन्द्रिय समुदाय को सम्पूर्ण विषयों से पृथक् कर लिया है, वह पुरुष आवृत्त चक्षु कहा गया

पराचः कामाननुयन्ति बालास्ते मृत्योर्यन्ति विततस्य पाशम् । अथ धीरा अमृतत्वं विदित्वा ध्रुवमध्रुवेष्विह न प्रार्थयन्ते ॥२॥

अल्पज्ञ पुरुष बाह्य भोगों के पीछे दौड़ते हैं, इसी से वे (अविद्या, काम, कर्म के समुदाय रूप) मृत्यु के विस्तृत पाश में पड़ जाते हैं। किन्तु विवेकी पुरुष अन्तरात्मा के अमरत्व को निश्चल जानकर संसार के अनित्य पदार्थों में से किसी की इच्छा नहीं करते, (क्योंकि वे सब परमात्म दर्शन के विरोधो हैं) ॥२॥

चक्षुः श्रोत्रादिकमिन्द्रियजातमशेषविषयाद्यस्य स आवृत्तचक्षुः। स एवं संस्कृतः प्रत्यगात्मानं पश्यति । न हि बाह्यविषयालोचनपरत्वं प्रत्यगात्मेक्षणं चैकस्य संभवति । किमर्थं पुनरित्थं महता प्रयासेन स्वभावप्रवृत्तिनिरोधं कृत्वा धीरः प्रत्यगात्मानं पश्यतीत्युच्यते । अमृतत्वममरणधर्मत्वं नित्यस्वभावतामिच्छन्नात्मन इत्यर्थः ॥ १॥

यत्तावत्स्वाभाविकं परागेवानात्मदर्शनं तदात्मदर्शनस्य प्रतिबन्धकारणमविद्या तत्प्रतिकूलत्वाद्या च पराक्ष्वेवाविद्योपदर्शितेषु दृष्टादृष्टेषु भोगेषु तृष्णा ताभ्यामविद्यातृष्णाभ्यां प्रतिबद्धात्मदर्शनाः पराचो बहिर्गतानेव कामान्काम्यान्विषयाननुयन्ति अनुगच्छन्ति, बाला अल्पप्रज्ञास्ते तेन कारणेन मृत्योरविद्याकामकर्मसमुदायस्य यन्ति गच्छन्ति विततस्य विस्तीर्णस्य सर्वतो व्याप्तस्य पाशं पाश्यन्ते बध्यन्ते येन तं पाशं

सर्पे रज्ज्वाः सातत्यं तथा कल्पितं सर्वं येन स्वस्वरूपवत्स आत्मेत्यर्थः ।।१॥

है। इस प्रकार वह संस्कारयुक्त पुरुष ही प्रत्यगात्मा को देखता है, बाह्य विषयों की आलोचना परायण रहना तथा प्रत्यगात्मा का साक्षात्कार करना, ये दोनों ही बात एक साथ एक पुरुष में सम्भव नहीं। फिर भला यह बतलावें कि इस प्रकार घोर परिश्रम से इन्द्रियों की स्वाभाविक प्रवृत्ति को रोक कर धीर पुरुष प्रत्यगात्मा को क्यों देखता है ? इस पर कहते हैं कि आत्मा के नित्य स्वभाव स्वरूप अमरत्व प्राप्ति की अभिलाषा से उसे देखता है ॥१॥

विवेकी और अवेविकी का भेद

जो स्वाभाविक बाह्य अनात्म दर्शन है, वही आत्मदर्शन के प्रतिबन्ध की बीजभूता अविद्या है; क्योंकि वह आत्मज्ञान के प्रतिकूल है। इसके अतिरिक्त अविद्या के कारण इस लोक एवं परलोक के बाह्य भोगों में जो तृष्णा है, उन्हीं अविद्या और तृष्णारूप दोनों ही प्रतिबन्धों से जिनका आत्मदर्शन प्रतिबद्ध हो गया है, ऐसे बाल तुल्य मन्दबुद्धि पुरुष बाह्य काम्य विषयों का ही अनुगमन किया करते हैं अर्थात् भोगों के पीछे दौड़ते रहते हैं। इसीलिये वे अज्ञानी अविद्या, काम और कर्म के समुदायरूप मृत्यु के सर्वत्र फैले हुए पाश में बन्ध जाते हैं। देह-इन्द्रिय के संयोग-वियोग को पाश कहते हैं। इसी

येन रूपं रसं गन्धं शब्दान्स्पर्शांश्च मैथुनान् ।
एतेनैव विजानाति किमत्र परिशिष्यते ।
एतद्वै तत् ॥३॥

जिस विज्ञान स्वरूप आत्मा के द्वारा रूप, रस, गन्ध, शब्द, स्पर्श, और मैथुन जन्य सुखों को विस्पष्ट रूप से सब लोक जानता है (उस आत्मा से अविज्ञेय) इस लोक में क्या अन्य कोई रह सकता है ? (तुझ नचिकेता का पूछा हुआ) वह तत्त्व निश्चयरूप से यही है ॥३॥

देहेन्द्रियादिसंयोगवियोगलक्षणम् । अनवरतजन्ममरणजरारोगाद्यनेकानर्थव्रातं प्रतिपद्यन्त इत्यर्थः । यत एवमथ तस्माद्धीराः विवेकिनः प्रत्यगात्मस्वरूपावस्थानलक्षणममृतत्वं ध्रुवं विदित्वा । देवाद्यमृतत्वं ह्यध्रुवमिदं तु प्रत्यगात्मस्वरूपावस्थानलक्षणं "न कर्मणा वर्धते नो कनीयान्" (बृ० ४. ४.२३) इति ध्रुवम् । तदेवंभूतं कूटस्थमविचाल्यममृतत्वं विदित्वाऽध्रुवेषु सर्वपदार्थेष्वनित्येषु निर्धार्य ब्राह्मणा इह संसारेऽनर्थप्राये न प्रार्थयन्ते किंचिदपि प्रत्यगात्मदर्शनप्रतिकूलत्वात् । पुत्रवित्तलोकैषणाभ्यो व्युत्तिष्ठन्त्येवेत्यर्थः ॥२॥

यद्विज्ञानान्न किंचिदन्यत्प्रार्थयन्ते ब्राह्मणाः कथं तदधिगम इति । उच्यते—

येन विज्ञानस्वभावेनाऽऽत्मना रूपं रसं गन्धं शब्दान्स्पर्शांश्च मैथुनान्मिथुननिमित्तान्सुखप्रत्ययान्विजानाति विस्पष्टं जानाति सर्वो लोकः । ननु नैवं प्रसिद्धि-

---

॥२॥

कथं तदधिगम इति किं वैदिकत्वाद्धर्मवत्परोक्षत्वेन ? किंवा घटादिवत्सिद्धत्वादपरोक्षत्वेनापि? इत्याकाङ्क्षायामात्मत्वाद्ब्रह्मणोऽपरोक्षत्वेनैवावगमः सम्यगवगम इत्युच्यते—येनेत्यादिना । मूढानां

फन्दे से जीव बाँधा जाता है, फलतः निरन्तर जन्म, मरण, बुढ़ापा और रोग आदि अनेकों अनर्थ समूह को प्राप्त होते हैं ।

जबकि ऐसी बात है, इसीलिये विवेकी पुरुष प्रत्यगात्म स्वरूप में स्थितरूप अमरत्व को निश्चल जानकर देवभाव आपेक्षिक अमरत्व की इच्छा नहीं करता । देवता आदि का अमरत्व निश्चल नहीं है। (वह सातिशय एवं अनित्य हैं) किन्तु यह प्रत्यगात्म में स्वरूप स्थितिरूप अमरत्व ध्रुव है। उसे "यह कर्म से बढ़ता नहीं और घटता भी नहीं ।" इस श्रुति में भी कहा गया है इस प्रकार के अमरत्व को कूटस्थ और अविचाल्य समझकर वे ब्रह्मवेत्ता ब्राह्मण लोग इस अनर्थप्रायः संसार के सम्पूर्ण नश्वर पदार्थों में से किसी की भी इच्छा नहीं करते क्योंकि बाह्य पदार्थों की तृष्णा प्रत्यगात्मदर्शन की विरोधी ही तो है। तात्पर्य यह कि वे ब्रह्मजिज्ञासु पुरुष पुत्रैषणा, वित्तैषणा एवं लोकैषणा से ऊपर उठ जाते हैं ॥२॥

आत्मज्ञानी की सर्वज्ञता

जिसके ज्ञान हो जाने पर ब्राह्मण लोग किसी अन्य वस्तु को नहीं चाहते हैं, उस ब्रह्म का ज्ञान

लोकस्याऽऽत्मना देहादिविलक्षणेनाहं विजानामीति । देहादिसंघातोऽहं विजानामीति तु सर्वो लोकोऽवगच्छति । न त्वेवम् । देहादिसंघातस्यापि शब्दादिस्वरूपत्वाविशेषाद्विज्ञेयत्वाविशेषाच्च न युक्तं विज्ञातृत्वम् । यदि हि देहादिसंघातो रूपाद्यात्मकः सन्रूपादीन्विजानीयाद्बाह्या अपि रूपादयोऽन्योन्यं स्वं स्वं रूपं च विजानीयुः । न चैतदस्ति । तस्माद्देहादिलक्षणांश्च रूपादीनेतेनैव देहादिव्यतिरिक्तेनैव विज्ञानस्वभावेनाऽऽत्मना विजानाति लोकः । यथा येन लोहो दहति सोऽग्निरिति तद्वत् । आत्मनोऽविज्ञेयं किमत्रास्मिँल्लोके परिशिष्यते, न किञ्चित्परिशिष्यते । सर्वमेव त्वात्मना विज्ञेयम् । यस्यात्मनोऽविज्ञेयं न किञ्चित्परिशिष्यते स आत्मा सर्वज्ञः । एतद्वै तत् । किं तद्यन्नचिकेतसा पृष्टं देवादिभिरपि विचिकित्सितं धर्मादिभ्योऽन्यद्विष्णोः परमं पदं यस्मात्परं नास्ति तद्वा एतदधिगतमित्यर्थः ॥३॥

व्यतिरिक्तेनाऽऽत्मना देहादेर्वेद्यत्वं यद्यपि न प्रसिद्धं तथाऽपि विचारकाणां व्यतिरिक्तेनैव वेद्यत्वं प्रसिद्धं ततो यच्छब्देन प्रसिद्धवत्परामर्शो न विरुध्यत इति परिहरति—न त्वेवं देहादीत्यादिना । दैहिकाः शब्दादयो न स्वात्मानमन्यं च विजानीयुः शब्दादित्वाद्दृश्यत्वाच्च बाह्यवत् । विपक्षे बाधकमाह—यदि हीति ॥३॥

किस प्रकार होता है ? इस पर कहते हैं कि जिस विज्ञान स्वरूप आत्मा के द्वारा सभी लोग रूप, रस, गन्ध, शब्द, स्पर्श और मैथुन जनित सुखों को स्पष्टरूप से जानते हैं (वही ब्रह्मतत्त्व है)। परन्तु लोक में ऐसी प्रसिद्धि नहीं है कि मैं देह आदि से विलक्षण आत्मा द्वारा पूर्वोक्त शब्दादि विषयों को जानता हूँ। इसके विपरीत सब लोग यही समझते हैं कि मैं देहादि संघातरूप हूँ और यहीं मैं सबको जानता हूँ ?

उत्तर :—ऐसी बात नहीं है; क्योंकि देहादि संघात भी अविशेष रूप से शब्दादिरूप तथा विज्ञेय स्वरूप ही तो हैं, उनमें विज्ञातृत्व मानना उचित नहीं है; क्योंकि रूप-रसादि स्वरूप होता हुआ भी देहादि संघात, यदि रूपादि को जान सके तो बाह्य रूपादि भी परस्पर एक-दूसरे को एवं अपने-अपने रूप को भी जान सकेंगे, किन्तु बात ऐसी नहीं है। अतः देहादि संघात भी रूप-रसादि स्वरूप ही है। बाह्य विषयों की भाँति इसको भी लोग देहादि से विलक्षण विज्ञान स्वभाव आत्मा के द्वारा ही जानते हैं। जिस प्रकार जिस अग्नि के तादात्म्य हो जाने पर लोहपिण्ड जलाता है, वह दाहकता लोह-पिण्ड की नहीं, अपितु अग्नि की ही है, जलाने वाला तत्त्व अग्नि ही है। ठीक उसी प्रकार (जिस नित्य विज्ञान द्वारा देहादि विषयों को लोग जानते हैं, उसी को आत्मा कहते हैं) उस देहादि विलक्षण आत्मा द्वारा न जानने योग्य वस्तु इस संसार में क्या रह जाती है अर्थात् कुछ भी नहीं रहती, सभी वस्तु आत्मा से ही तो जानी जाती हैं। इस प्रकार जिस आत्मा से अविज्ञेय कोई वस्तु शेष नहीं रहती, वह आत्मा सर्वज्ञ है और यही वह है। वह कौन है ? जिसके सम्बन्ध में नचिकेता ने पूछा था, जो देवादिकों का भी सन्देहास्पद है एवं जो धर्माधर्म आदि से विलक्षण विष्णु का परम पद है और जिससे श्रेष्ठ अन्य कुछ भी नहीं है, वही यह ब्रह्मपद है, जो अब अधिगत हो गया है। यह इसका तात्पर्य है ॥३॥

स्वप्नान्तं जागरितान्तं चोभौ येनानुपश्यति ।
महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति ॥४॥
य इमं मध्वदं वेद आत्मानं जीवमन्तिकात् ।
ईशानं भूतभव्यस्य न ततो विजुगुप्सते । एतद्वै तत् ॥५॥

जिसके द्वारा मनुष्य स्वप्न में प्रतीत होने वाले तथा जाग्रत में दीखने वाले दोनों प्रकार के पदार्थों को देखता है। उस महान् और व्यापक आत्मा को (आत्मरूप से) प्रत्यक्ष अनुभव कर बुद्धिमान् पुरुष शोक नहीं करता ॥४॥

जो पुरुष इस कर्म फल के भोक्ता और (प्राणादि समुदाय को धारण करने वाले) आत्मा को सान्निध्यमात्र से भूत, भविष्यत् और वर्तमान के शासक रूप में जानता है। (वह वैसे विज्ञान के) बाद उस आत्मा की रक्षा करने की इच्छा नहीं करता। निश्चय वहीं यह (आत्मतत्त्व) है ॥५॥

अतिसूक्ष्मत्वाद्दुर्विज्ञेयमिति मत्वैतमेवार्थं पुनः पुनराह—

स्वप्नान्तं स्वप्नमध्यं स्वप्नविज्ञेयमित्यर्थः । तथा जागरितान्तं जागरितमध्यं जागरितविज्ञेयं च । उभौ स्वप्नजागरितान्तौ येनाऽऽत्मनाऽनुपश्यति लोक इति सर्वं पूर्ववत् । तं महान्तं विभुमात्मानं मत्वाऽवगम्याऽऽत्मभावेन साक्षादहमस्मि परमात्मेति धीरो न शोचति ॥४॥

किञ्च—

यः कश्चिदिमं मध्वदं कर्मफलभुजं जीवं प्राणादिकलापस्य धारयितारमात्मानं वेद विजानात्यन्तिकादन्तिके समीप ईशानमीशितारं भूतभव्यस्य कालत्रयस्य, ततस्तद्विज्ञानादूर्ध्वमात्मानं न विजुगुप्सते न गोपायितुमिच्छत्यभयप्राप्तत्वात् । यावद्धि

॥४॥

ब्रह्मज्ञानी की शोक निवृत्ति

अति सूक्ष्म होने के कारण ब्रह्म को जानना अत्यन्त कठिन है। ऐसा समझकर उसी बात को बारम्बार कहते हैं। स्वप्नावस्था में जानने योग्य तथा जाग्रदवस्था में जानने योग्य इन दोनों स्वप्न और जाग्रत् के अन्तवर्ती पदार्थों को जिसके द्वारा लोग देखते हैं (वही ब्रह्म है) इस वाक्य की शेष व्याख्या पूर्वमन्त्र के समान समझनी चाहिये। उस महान् व्यापक आत्मा को जानकर अर्थात् वह मैं ही हूँ। इस प्रकार आत्मभावेन साक्षात् अनुभव कर बुद्धिमान् पुरुष शोक नहीं करता ॥४॥

आत्मज्ञानी की निर्भीकता

जो कोई इस कर्म, फल, भोक्ता एवं प्राणादि समुदाय को धारण करने वाले जीवात्मा को समीपवर्ती भूत, भविष्य आदि तीनों कालों के शासक रूप से जानता है। ऐसा ज्ञान हो जाने के बाद

यः पूर्वं तपसो जातमद्भ्यः पूर्वमजायत । गुहां प्रविश्य तिष्ठन्तं यो भूतेभिर्व्यपश्यत । एतद्वै तत् ॥६॥

जो मुमुक्षु जल आदि भूतों की अपेक्षा पहले उत्पन्न हुए ज्ञान रूप तप से पैदा होने वाले (हिरण्यगर्भ) को भूतों के सहित बुद्धि रूपी गुफा में स्थित हुआ देखता है, वही उस ब्रह्म को देखता है। निश्चय वही यह ब्रह्म है ॥६॥

भयमध्यस्थोऽनित्यमात्मानं मन्यते तावद्गोपायितुमिच्छत्यात्मानम् । यदा तु नित्यमद्वैतमात्मानं विजानाति तदा किं कः कुतो वा गोपायितुमिच्छेदेतद्वै तदिति पूर्ववत् ॥५॥

यः प्रत्यगात्मेश्वरभावेन निर्दिष्टः स सर्वात्मेत्येतद्दर्शयति—

यः कश्चिन्मुमुक्षुः पूर्वं प्रथमं तपसो ज्ञानादिलक्षणाद्ब्रह्मण इत्येतज्जातमुत्पन्नं हिरण्यगर्भम् । किमपेक्ष्य पूर्वमित्याह—अद्भ्यः पूर्वमप्सहितेभ्यः [1]पञ्चभूतेभ्यो न केवलाभ्योऽद्भ्य इत्यभिप्रायः । अजायत, उत्पन्नो यस्तं प्रथमजं देवादिशरीराण्युत्पाद्य सर्वप्राणिगुहां हृदयाकाशं प्रविश्य तिष्ठन्तं शब्दादीनुपलभमानं भूतेभिर्भूतैः कार्यकरण-

---

॥५॥

यः कश्चित्पूर्वं तपसो जातं पश्यति स प्रकृतं ब्रह्मैव पश्यतीति सम्बन्धः । [2]अद्भ्यः पूर्वमित्यादिना हिरण्यगर्भस्य विशेषेणा[3]न्तःकरणांशेन [4]जीवावच्छेदकत्वाज्जीवतादात्म्यविवक्षया विशेषणं शब्दादीनुप-

---

वह उस आत्मा का रक्षण नहीं करना चाहता; क्योंकि वह अभय को प्राप्त हो गया है। जब तक भय के अन्तर्गत रहता हुआ अपने आपको अनित्य समझता है, तभी तक उसकी रक्षा करना चाहता है, किन्तु जब आत्मा को नित्य अद्वैत जान लेता है, उस समय कौन किससे किसकी रक्षा करना चाहता है। निःसन्देह यही वह आत्मतत्त्व है। इस प्रकार पूर्ववत् समझ लेना चाहिये ॥५॥

ब्रह्मज्ञानी का सर्वत्र आत्मदर्शन

जो प्रत्यगात्मा यहाँ पर ईश्वर-रूप से बतलाया गया, वह सबका अन्तरात्मा है। अब इस बात को अग्रिम मन्त्र से दिखलाते हैं। जो जल सहित पाँचों तत्त्वों से पूर्व उत्पन्न हुआ है न कि केवल जल से ही पूर्व उत्पन्न हुआ, जिसका उपादान कारण ज्ञानादि लक्षण ब्रह्मस्वरूप तप है। ऐसे ब्रह्मस्वरूप तप से सर्वप्रथम हिरण्यगर्भ उत्पन्न हुआ, उस प्रथमज हिरण्यगर्भ को देवादि शरीरों को उत्पन्न कर सम्पूर्ण प्राणियों के हृदयाकाश में प्रविष्ट हो देह-इन्द्रियरूप भूतों के सहित शब्दादि विषयों को अनुभव करते

---

१. पञ्चभूतेभ्य इति पञ्चीकृतेभ्य इत्यवधेयम् । २. जीवत्वमेव कुतो नेत्यत आह—अद्भ्य इत्यादि । विशेषेणविशेषणेनेत्यर्थः । न ह्येतज्जीवस्य सम्भवतीति भावः । ३. चिदश्चिदवच्छेदकत्वमसम्भवीत्यत आह—अन्तःकरणांशेनेति । स्वाभिमानविषयसमष्टिलिङ्गैकदेशेनैव तस्य तदवच्छेदकत्वमिति भावः । ४. हिरण्यगर्भस्य जीवत्वमाशङ्क्य तदन्तरेणैव विशेषणमुपपादयति—जीवावच्छेदकत्वादित्यादिना ।

या प्राणेन संभवत्यदितिर्देवतामयी । गुहां प्रविश्य तिष्ठन्तीं या भूतेभिर्व्यजायत । एतद्वै तत् ॥७॥

अरण्योर्निहितो जातवेदा गर्भ इव सुभृतो गर्भिणीभिः । दिवे दिव ईड्यो जागृवद्‌भिर्हविष्मद्‌भिर्मनुष्येभिरग्निः । एतद्वै तत् ॥८॥

जो सर्वदेवस्वरूपा अदिति हिरण्यगर्भरूप से परब्रह्म से उत्पन्न होती है और जो बुद्धि रूप गुफा से प्रवेश कर रहने वाली है तथा भूतों के साथ ही उत्पन्न है, (उसी को देखो) निश्चय वही यह तत्त्व है ॥७॥

जैसे गर्भिणी स्त्रियों के (शुद्ध अन्नपानादि से अपने) गर्भ की अच्छी प्रकार रक्षा की जाती है वैसे ही (अधियज्ञ रूप से) जो अग्नि दोनों अरणियों के बीच स्थित है तथा प्रमादशून्य कर्म परायण होम सामग्री से युक्त याचकों और ध्यान भावना युक्त योगियों द्वारा यज्ञ एवं हृदय देश में नित्य प्रति स्तुति किये जाने योग्य है, यही वह ब्रह्म है ॥८॥

लक्षणैः सह तिष्ठन्तं यो व्यपश्यत यः पश्यतीत्येतत् । य एवं पश्यति स एतदेव पश्यति यत्तत्प्रकृतं ब्रह्म ॥६॥

किञ्च—

या सर्वदेवतामयी सर्वदेवतात्मिका प्राणेन हिरण्यगर्भरूपेण परस्माद्‌ब्रह्मणः सम्भवति शब्दादीनामदनाददितिस्तां पूर्ववद्‌गुहां प्रविश्य तिष्ठन्तीमदितिम् । तामेव विशिनष्टि—या भूतेभिर्भूतैः समन्विता व्यजायत, उत्पन्नेत्येतत् ॥७॥

किञ्च—

योऽधियज्ञ उत्तराधरारण्योर्निहितः स्थितो जातवेदा अग्निः पुनः सर्वहविषां

लभमानमिति । यदिति । **यस्माल्लोके सुवर्णाज्जातं कुण्डलं सुवर्णमेव भवति तद्वद्‌ब्रह्मणो जातो हिरण्यगर्भोऽपि ब्रह्मात्मक एवेत्यर्थः ॥६॥**

हिरण्यगर्भस्यैव विशेषणान्तरमाह—किञ्चेति ॥७॥

हुए, जिस किसी मुमुक्षु ने देखा है अर्थात् जो इस प्रकार देखता है, वस्तुतः वही देखता है अर्थात् वही देखता है । जो ऐसा अनुभव करता है, वही इस प्रकृत ब्रह्म को देखता है ॥६॥

जो सब देवस्वरूपा अदिति हिरण्यगर्भरूप परब्रह्म से उत्पन्न होती है, शब्दादि विषयों का भक्षण करने के कारण उसे अदिति कहते हैं एवं बुद्धिरूप गुफा में प्रवेश कर जो स्थित है, उस अदिति को देखा । उस अदिति में विशेषता बतलाते हैं; जो भूतों से समन्वित ही उत्पन्न हुई है (वही तेरा पूछा हुआ तत्त्व है) ॥७॥

यतश्चोदेति सूर्योऽस्तं यत्र च गच्छति ।
तं देवाः सर्वे अर्पितास्तदु नात्येति कश्चन ।
एतद्वै तत् ॥९॥

जहाँ से (प्रति नित्य) सूर्य उदित होता है और जिसमें वह अस्त होता है। उस प्राणात्मा में (स्थिति के समय अग्नि आदि अधिदैव और वागादि अध्यात्म) सभी देवता अर्पित हैं, उसका अतिक्रमण कोई नहीं कर सकता, वही यह सर्वात्मक ब्रह्म है ॥९॥

भोक्ताऽध्यात्मं च योगिभिर्गर्भ इव गर्भिणीभिरन्तर्वत्नीभिरगर्हितान्नपानभोजनादिना यथा गर्भः सुभृतः सुष्ठु सम्यग्भृतो लोक इतीत्थमेवर्त्विग्भिर्योगिभिश्च सुभृत इत्येतत् । किञ्च दिवे दिवेऽहन्यहनीड्यः स्तुत्यो वन्द्यश्च कर्मिभिर्योगिभिश्चाध्वरे हृदये च जागृवद्भिर्जागरणशीलवद्भिरप्रमत्तैरित्येतद्धविष्मद्भिराज्यादिमद्भिर्ध्यानभावनावद्भिश्च मनुष्येभिर्मनुष्यैरग्निरेतद्वै तत्तदेव प्रकृतं ब्रह्म ॥८॥

किंच—

यतश्च यस्मात्प्राणादुदेत्युत्तिष्ठति सूर्योऽस्तं निम्लोचनं यत्र यस्मिन्नेव च प्राणेऽहन्यहनि गच्छति तं प्राणमात्मानं देवा अग्न्यादयोऽधिदैवं वागादयश्चाध्यात्मं सर्वे विश्वेऽरा इव रथनाभावर्पिताः संप्रवेशिताः स्थितिकाले । सोऽपि ब्रह्मैव । तदेतत्सर्वात्मकं ब्रह्म । तदु नात्येति नातीत्य तदात्मकतां तदन्यत्वं गच्छति कश्चन कश्चिदपि । एतद्वै तत् ॥९॥

॥८॥ ॥९॥

अरणिस्थ अग्नि में ब्रह्मदृष्टि

जैसे गर्भवती स्त्रियाँ शुद्ध अन्न-पानादि द्वारा अपने गर्भ की भलीभाँति रक्षा करती हैं। वैसे ही यज्ञ करने वाले तथा योगीजन जिसे धारण करते हैं, जो ऊपर और नीचे की अरणियों में अधियज्ञ रूप से स्थित हुआ सम्पूर्ण हविष्य पदार्थों का भोक्ता अध्यात्मरूप जातवेदा अग्नि है एवं घृत आदि होम सामग्रीयुक्त कर्म परायण एवं जागरणशील प्रमादशून्य याजकों और ध्यान भावनायुक्त योगियों द्वारा जो यज्ञ और हृदय देश में स्तुति करने योग्य है, ऐसा अग्नि है, वही निःसन्देह यह प्रकृत ब्रह्म है ॥८॥

प्राण में ब्रह्मदृष्टि

जिस प्राण से प्रतिदिन सूर्य उदित होता है और जिस प्राण में ही वह प्रतिनित्य लीन हो जाता है, उस प्राण आत्मा में स्थिति के समय अग्नि आदि अधिदेव और वागादि अध्यात्म सभी देवता वैसे ही प्रविष्ट किये गये हैं, जैसे रथ की नाभि में समस्त अरे प्रविष्ट होते हैं। वह भी ब्रह्म ही है, वही यह सर्वात्मक ब्रह्म है, जिसका अतिक्रमण कोई कर नहीं सकता अर्थात् उस ब्रह्म के तादात्म्य भाव को पार कर कोई भी उससे भिन्नत्व को प्राप्त नहीं होता, यही वह ब्रह्म है ॥९॥

यदेवेह तदमुत्र यदमुत्र तदन्विह । मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति ॥१०॥

जो इस (देह इन्द्रिय संघात रूप लोक) में भास रहा है, वही ब्रह्म अन्यत्र (इस देहादि से परे नित्य विज्ञानघन रूप) भी है, तथा जो अन्यत्र है वही इस संघात में है। (ऐसा होने पर भी) जो मनुष्य इस तत्त्व में नानात्व देखता है, वह मृत्यु से मृत्यु को प्राप्त होता है अर्थात् बारम्बार जन्मता मरता है ॥१०॥

यद्ब्रह्मादिस्थावरान्तेषु वर्तमानं तत्तदुपाधिकत्वादब्रह्मवदवभासमानं संसार्यन्यत्परस्माद्ब्रह्मण इति मा भूत्कस्यचिदाशङ्केतीदमाह—

यदेवेह कार्यकरणोपाधिसमन्वितं संसारधर्मवदवभासमानमविवेकिनां तदेव स्वात्मस्थममुत्र नित्यविज्ञानघनस्वभावं सर्वसंसारधर्मवर्जितं ब्रह्म । यच्चामुत्रामुष्मिन्नात्मनि स्थितं तदेवेह नामरूपकार्यकरणोपाधिमनु विभाव्यमानं नान्यत् । तत्रैवं सत्युपाधिस्वभावभेददृष्टिलक्षणयाऽविद्यया मोहितः सन्य इह ब्रह्मण्यनानाभूते परस्मादन्योऽहं मत्तोऽन्यत्परं ब्रह्मेति नानेव भिन्नमिव पश्यत्युपलभते स मृत्योर्मरणान्मरणं

सर्वात्मकं ब्रह्मोक्तं तदसत्, उपाध्यवच्छिन्नचैतन्यस्य जीवस्य संसारित्वाद्विरुद्धधर्माक्रान्तयोरैक्यायोगादित्याशङ्क्य विरुद्धधर्मत्वस्योपाधिनिबन्धनत्वात्स्वभावैक्ये न किञ्चिदनुपपन्नमित्याह—यद्ब्रह्मादीत्यादिना । अमुष्मिन्[1] जगत्कारणत्वोपाधौ । उपाधिस्वभावश्च भेददृष्टिश्च ताभ्यां कारणतया लक्ष्यत इत्युपाधिस्वभावभेददृष्टिलक्षणा । न ह्यन्तःकरणाद्युपाधेर्भेददृष्टेश्चानिर्वाच्याविद्यामन्तरेण सम्भवः, कार्यकारणभावस्य संवित्सम्बन्धस्य च दुर्निरूपत्वात् । नानेवेत्युपमार्थ इवशब्दः । यथा स्वप्ने नानात्वाभावेऽपि नानात्वमध्यारोप्य सत्यत्वाभिनिवेशेन व्यवहरति तथा जागरितेऽपि नानात्वमध्यारोप्य

भेद दर्शन की निन्दा

जो ब्रह्मा से लेकर स्थावर पर्यन्त सम्पूर्ण भूतों में विद्यमान है तथा भिन्न-भिन्न उपाधियों का कारण अब्रह्मवद् भासता है, वह संसारी जीव परब्रह्म से भिन्न है। इस प्रकार की शङ्का किसी को न हो जाय; इसीलिये यमराज आगे कहते हैं—इस लोक में कार्यदेह और करण इन्द्रियरूप उपाधि से युक्त हो अविवेकियों का संसार धर्मयुक्त भासता है। अपने स्वरूप में अवस्थित वही ब्रह्म इन देहादिकों से परे नित्य विज्ञानघन स्वरूप और सम्पूर्ण संसार धर्मों से रहित हैं एवं जो उस परमात्मभाव में स्थित है, वही इस लोक में नाम, रूप एवं कार्य-कारणरूप उपाधि के अनुरूप भासने वाला आत्मतत्त्व है, कोई दूसरा नहीं। ऐसा होने पर भी जो पुरुष उपाधि के स्वभाव और भेद दृष्टिरूप अविद्या से मोहित होकर इस एकरूप ब्रह्म में 'मैं परमेश्वर से भिन्न हूँ और परमेश्वर मुझसे भिन्न है' इस प्रकार भिन्न की

---

१. जगत्कारणत्वोपाधाविति—ईश्वरोपाधाविति यावत् ।

मनसैवेदमाप्तव्यं नेह नानाऽस्ति किञ्चन । मृत्योः स मृत्युं गच्छति य इह नानेव पश्यति ॥११॥

अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो मध्य आत्मनि तिष्ठति । ईशानं

मन से ही यह (एकरस ब्रह्म) प्राप्त करने योग्य है, इस ब्रह्मतत्त्व में नानात्व अणुमात्र कुछ भी नहीं है। जो पुरुष (अविद्या रूप तिमिर दोषदृष्टि को न त्याग कर) इसमें नानात्व सा देखता है, वह मृत्यु से मृत्यु को प्राप्त होता है ॥११॥

जो अङ्गुष्ठ परिणाम पुरुष (अङ्गुष्ठ मात्र परिणाम वाले हृदय कमल के) मध्य में स्थित

मृत्युं पुनः पुनर्जन्ममरणभावमाप्नोति प्रतिपद्यते । तस्मात्तथा न पश्येत् । विज्ञानैकरसं नैरन्तर्येणाऽऽकाशवत्परिपूर्णं ब्रह्मैवाहमस्मीति पश्येदिति वाक्यार्थः ॥१०॥

प्रागेकत्वविज्ञानादाचार्यागमसंस्कृतेन मनसेदं ब्रह्मैकरसमाप्तव्यमात्मैव नान्यदस्तीति । आप्ते च नानात्वप्रत्युपस्थापिकाया अविद्याया निवृत्तत्वादिह ब्रह्मणि नाना नास्ति किञ्चनाणुमात्रमपि । यस्तु पुनरविद्यातिमिरदृष्टिं न मुञ्चतीह ब्रह्मणि नानेव पश्यति स मृत्योर्मृत्युं गच्छत्येव स्वल्पमपि भेदमध्यारोपयन्नित्यर्थः ॥११॥

पुनरपि तदेव प्रकृतं ब्रह्माऽऽह—

सत्यत्वाभिनिवेशेन यो व्यवहरति, तस्य निन्दितत्वादेकरसं ब्रह्मैवास्मीति प्रतिपत्तव्यमित्यर्थः ॥१०॥

एकरसं चेद्ब्रह्म कथं ज्ञातृज्ञेयविभाग इत्याशङ्क्याज्ञं प्रति कल्पितभेदेनेत्याह—प्रागेकत्वविज्ञानादिति ॥११॥

अङ्गुष्ठपरिमाणं जीवमनूद्य ब्रह्मभावविधानाद्विधीयमानविरोधादङ्गुष्ठमात्रस्याविवक्षितत्वाद्ब्रह्मपरमेव वाक्यमित्याह—पुनरपि तदेवेति ॥१२॥

भाँति देखता है, वह मृत्यु से मृत्यु को प्राप्त होता है अर्थात् बारम्बार जन्म-मरण भाव को प्राप्त होता रहता हें। अतः ऐसी दृष्टि का परित्याग कर देना चाहिये। इतना ही नहीं बल्कि मैं नित्य निर्बाधरूप से आकाश के सदृश परिपूर्णरूप और विज्ञानघनैक रसस्वरूप ब्रह्म ही हूँ, इस प्रकार देखे। बस ! यही इस वाक्य का तात्पर्य अर्थ है ॥१०॥

एकत्व विज्ञान से पूर्व आचार्य और शास्त्र के उपदेश से मन संस्कारयुक्त होना चाहिये। ऐसे संस्कारयुक्त मन के द्वारा ही यह एकरस ब्रह्म सब कुछ आत्मा ही है, भिन्न कुछ भी नहीं। इस प्रकार प्राप्त करने योग्य है। उसकी प्राप्ति हो जाने पर भेद उपस्थापिका अविद्या के निवृत्त हो जाने से इस ब्रह्मतत्व में लेशमात्र भी भेद नहीं रह जाता। किन्तु जो पुरुष अविद्यारूप तिमिर रोगग्रस्त का परित्याग नहीं करता; प्रत्युत नानात्व को देखता ही रहता है ! इस प्रकार थोड़ा भी भेद का आरोप करता हुआ अज्ञानी जीव पुनः-पुनः मृत्यु से मृत्यु को प्राप्त होता ही रहता है ॥११॥

भूतभव्यस्य न ततो विजुगुप्सते। एतद्वै तत् ॥१२॥
अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो ज्योतिरिवाधूमकः। ईशानो
भूतभव्यस्य स एवाद्य स उ श्वः। एतद्वै तत् ॥१३॥

है उसे भूत, भविष्यत् तथा वर्तमान का शासक समझ कर ज्ञानी पुरुष अपने शरीर रक्षा की इच्छा नहीं करता। निश्चय यही वह ब्रह्मतत्त्व है ॥१२॥

यह अङ्गुष्ठ मात्र पुरुष धूम रहित ज्योति के समान है। यह भूत, भविष्यत् का शासक है यही आज है और यही कल भी रहेगा। निश्चय ही वह यही ब्रह्मतत्त्व है ॥१३॥

अङ्गुष्ठमात्रोऽङ्गुष्ठपरिमाणः। अङ्गुष्ठपरिमाणं हृदयपुण्डरीकं तच्छिद्रवर्त्यन्तः-करणोपाधिरङ्गुष्ठमात्रोऽङ्गुष्ठमात्रवंशपर्वमध्यवर्त्यम्बरवत्। पुरुषः पूर्णमनेन सर्वमिति। मध्य आत्मनि शरीरे तिष्ठति यस्तमात्मानमीशानं भूतभव्यस्य विदित्वा न तत इत्यादि पूर्ववत् ॥१२॥

किञ्च—

अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो ज्योतिरिवाधूमकोऽधूमकमिति युक्तं ज्योतिष्परत्वात्। यस्त्वेवं लक्षितो योगिभिर्हृदय ईशानो भूतभव्यस्य स एव नित्यः कूटस्थोऽद्येदानीं प्राणिषु वर्तमानः स उ श्वोऽपि वर्तिष्यते नान्यस्तत्समोऽन्यश्च जनिष्यत इत्यर्थः। अनेन नायम-

---

॥१३॥

हृदयस्थ ब्रह्मदर्शन का फल

फिर भी उसी प्रकृत ब्रह्म का वर्णन करते हैं—हृदय कमल अङ्गुष्ठ के समान परिमाण वाला है, उसके छिद्र में रहने वाला जो अन्तःकरण औपाधिक अंगूठे के बराबर परिमाण वाले बाँस के पर्व में स्थित आकाशतुल्य अङ्गुष्ठ परिमाण वाला पुरुष शरीर के मध्य में स्थित है, सम्पूर्ण शरीर में परिपूर्ण होने के कारण उसे पुरुष कहा गया है, वही आत्मा भूत भविष्यत् काल का शासक है, उस आत्मा को जानकर (तत्त्ववेत्ता पुरुष अपनी सुरक्षा की चिन्ता नहीं करता) इत्यादि शेष पदों की व्याख्या पूर्व की भाँति कर लेना चाहिये ॥१२॥

वह अङ्गुष्ठ परिमाण वाला पुरुष निर्धूम वह्नि के समान है। मूलमन्त्र में आया हुआ 'अधूमकः' पद नपुंसक लिङ्ग ज्योति शब्द का विशेषण होने से 'अधूमकम्' ऐसा लिङ्ग का विपर्यय कर लेना चाहिये। इस प्रकार हृदय में जो योगियों द्वारा लक्षित होता है, वह भूत और भविष्यत् का शासक, नित्य कूटस्थ चैतन्यघन आत्मा सम्पूर्ण प्राणियों में आज भी विद्यमान है और वही कल भी रहेगा अर्थात् उसके समान दूसरा पुरुष उत्पन्न नहीं होता। इससे यह सिद्ध हुआ कि कुछ लोग देह के मर जाने पर आत्मा का अस्तित्व नहीं रहता, ऐसा कहते हैं। उनका यह पक्ष युक्ति-युक्त न होता हुआ भी

यथोदकं दुर्गे वृष्टं पर्वतेषु विधावति ।
एवं धर्मान्पृथक्पश्यंस्तानेवानुविधावति ॥१४॥
यथोदकं शुद्धे शुद्धमासिक्तं तादृगेव भवति ।
एवं मुनेर्विजानत आत्मा भवति गौतम ॥१५॥

इति काठकोपनिषदि द्वितीयाध्याये प्रथमवल्ली समाप्ता ॥१॥ (४)

जैसे ऊँचे पर्वतीय स्थान में बरसा हुआ जल पर्वतीय निम्न प्रदेशों में (फैलकर) नष्ट हो जाता है, वैसे ही आत्माओं को (प्रत्येक शरीर में) पृथक्-पृथक् देखकर जीव उन्हीं को (बारम्बार शरीर भेद को) प्राप्त होता है ॥१४॥

जैसे स्वच्छ जल में डाला हुआ स्वच्छ जल (मिलकर) वैसा हो स्वच्छ हो जाता है। हे गौतम ! एकत्व आत्मदर्शी पुरुष का आत्मा भी वैसा ही हो जाता है ॥१५॥

स्तीति चैक इत्ययं पक्षो न्यायतोऽप्राप्तोऽपि स्ववचनेन श्रुत्या प्रत्युक्तस्तथा क्षणभङ्ग-वादश्च ॥१३॥

पुनरपि भेददर्शनापवादं ब्रह्मण आह—

यथोदकं दुर्गे दुर्गमे देश उच्छ्रिते वृष्टं सिक्तं पर्वतेषु [1]पर्ववत्सु निम्नप्रदेशेषु विधावति विकीर्णं सद्विनश्यति एवं धर्मानात्मनो भिन्नान्पृथक्पश्यन्पृथगेव प्रतिशरीरं पश्यंस्तानेव शरीरभेदानुवर्तिनोऽनुविधावति । शरीरभेदमेव पृथक्पुनः पुनः प्रतिपद्यत इत्यर्थः ॥ १४ ॥

यस्य पुनर्विद्यावतो बिध्वस्तोपाधिकृतभेददर्शनस्य विशुद्धविज्ञानघनैकरसमद्वय-मात्मानं पश्यतो विजानतो मुनेर्मननशीलस्याऽऽत्मस्वरूपं कथं भवति—

॥१४॥

श्रुति ने स्ववचन से खण्डित कर दिया; साथ ही बौद्धों के क्षणभंगुरवाद का भी खण्डन श्रुति ने कर दिया ॥१३॥

भेद दर्शन की निन्दा

ब्रह्म में भेद देखने वाले के भेद दर्शन की निन्दा श्रुति फिर भी करती है। जसे ऊँचे स्थान पर बरसा हुआ जल पर्वतीय निम्न देशों में फैलकर नष्ट हो जाता है, वैसे ही प्रत्येक शरीर में भिन्न-भिन्न आत्माओं को देखने वाला मनुष्य उन्हीं शरीर भेद का अनुसरण करने वालों की ओर ही भागता जाता है। तात्पर्य यह है कि भेददर्शी बारम्बार भिन्न-भिन्न शरीर भेद को ही प्राप्त होता रहता है ॥१४॥

अभेद दर्शन की प्रशंसा

जिस विद्वान् की औपाधिक भेददृष्टि नष्ट हो गई है, अतएव जो एकमात्र विशुद्ध विज्ञानघनक-रस अद्वय आत्मा को ही देखता है, उस तत्ववेत्ता मननशील पुरुष का आत्मा कैसा होता है ? यही बात

---

१. "तप्पर्वमरुद्भ्यामि"ति सूचयन्नाह—पर्ववत्स्विति ।

पुरमेकादशद्वारमजस्यावक्रचेतसः । अनुष्ठाय न शोचति विमुक्तश्च विमुच्यते । एतद्वै तत् ॥१॥

जन्मादि विकार रहित उस नित्य विज्ञान स्वरूप आत्मा का (पुर के समान होने से यह शरीर रूप) पुर ग्यारह दरवाजों वाला है। ऐसे आत्मा का सम्यक् ज्ञान पूर्वक अनुष्ठान कर पुरुष शोक नहीं करता है और वह इस शरीर के रहते हुए ही अविद्याकृत काम और कर्म के बन्धनों से सर्वथा जीवन मुक्त हुआ ही विदेह कैवल्य को प्राप्त करता है ॥१॥

यथोदकं शुद्धे प्रसन्ने शुद्धं प्रसन्नमासिक्तं प्रक्षिप्तमेकरसमेव नान्यथा तादृगेव भवत्यात्माऽप्येवमेव भवत्येकत्वं विजानतो मुनेर्मननशीलस्य, हे गौतम । तस्मात्कुतार्किकभेददृष्टिं नास्तिककुदृष्टिं चोज्झित्वा मातृपितृसहस्रेभ्योऽपि हितैषिणा वेदेनोपदिष्टमात्मैकत्वदर्शनं शान्तदर्पैरादरणीयमित्यर्थः ॥ १५ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यश्रीमदाचार्यश्रीशङ्करभगवतः कृतौ काठकोपनिषद्भाष्ये द्वितीयाध्याये प्रथमवल्लीभाष्यं समाप्तम् ॥ १ ॥ (४)

पुनरपि प्रकारान्तरेण ब्रह्मतत्त्वनिर्धारणार्थोऽयमारम्भो दुर्विज्ञेयत्वाद्ब्रह्मणः—पुरं पुरमिव पुरम् । द्वारपालाधिष्ठात्राद्यनेकपुरोपकरणसंपत्तिदर्शनाच्छरीरं पुरम् । पुरं च

॥१५॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमच्छुद्धानन्दपूज्यपादशिष्यानन्दज्ञानविरचिते काठकोपनिषद्भाष्यव्याख्याने द्वितीयाध्याये प्रथमवल्ली समाप्ता ॥१॥ (४)

पौनरुक्त्यं परिहरन्सम्बन्धमाह—पुनरपीति । भूयोऽपि पथ्यं वक्तव्यमिति न्यायेनोपायान्तरेण

आगे बतलायी जा रही है—

जैसे स्वच्छ जल में डाला हुआ स्वच्छ जल मिलकर एकरस हो जाता है उससे विपरीत अवस्था में नहीं रहता, हे गौतम ! वैसे ही एकत्वदर्शी मननशील पुरुष का आत्मा भी ठीक उसी प्रकार हो जाता है। इसीलिये कुतार्किकों की भेददृष्टि और नास्तिकों की कुदृष्टि को त्याग कर सहस्रों माता-पिता से भी अधिक हित चाहने वाले वेद के द्वारा उपदेश किये गये आत्मैकत्व दर्शन का ही निर-भिमान होकर आदर करना चाहिये ॥१५॥

॥ इति प्रथम वल्ली ॥

अथ द्वितीय वल्ली

अन्य प्रकार से ब्रह्म का अनुसन्धान

दुर्विज्ञेय होने के कारण पूर्वोक्त ब्रह्मतत्त्व का अन्य प्रकार से निश्चय कराने के लिये फिर भी यह आगे का ग्रन्थ प्रारम्भ किया जा रहा है। पुर के समान होने से यह शरीर भी पुर कहा गया है;

हꣳसः शुचिषद्वसुरन्तरिक्षसद्धोता वेदिषदतिथि-

वह गमन कर्ता होने से हंस है, आकाश में सूर्य रूप से चलने के कारण शुचिषत् है। व्यापक होने से वसु है। वायु रूप से आकाश में चलने के कारण अन्तरिक्षसद् है। वेदी (पृथिवी) में स्थित

सोपकरणं स्वात्मनाऽसंहतस्वतन्त्रस्वाम्यर्थं दृष्टम् । तथेदं पुरसामान्यादनेकोपकरण-संहतं शरीरं स्वात्मनाऽसंहतराजस्थानीयस्वाम्यर्थं भवितुमर्हति । तच्चेदं शरीराख्यं पुरमेकादशद्वारमेकादशद्वाराण्यस्य सप्त शीर्षण्यानि नाभ्या सहार्वाञ्चि त्रीणि शिरस्येकं तैरेकादशद्वारं पुरं कस्याजस्य जन्मादिविक्रियारहितस्याऽऽत्मनो राजस्थानीयस्य पुरधर्मविलक्षणस्य । अवक्रचेतसोऽऽवक्रमकुटिलमादित्यप्रकाशवन्नित्यमेवावस्थितमेकरूपं चेतो विज्ञानमस्येत्यवक्रचेतास्तस्यावक्रचेतसो राजस्थानीयस्य ब्रह्मणः । यस्येदं पुरं तं परमेश्वरं पुरस्वामिनमनुष्ठाय ध्यात्वा । ध्यानं हि तस्यानुष्ठानं सम्यग्विज्ञानपूर्वकम् । तं सर्वैषणाविनिर्मुक्तः सन्समं सर्वभूतस्थं ध्यात्वा न शोचति । तद्विज्ञानादभयप्राप्तेः शोकावसराभावात्कुतो भयेक्षा । इहैवाविद्याकृतकामकर्मबन्धनैर्विमुक्तो भवति । विमुक्तश्च सन्विमुच्यते पुनः शरीरं न गृह्णातीत्यर्थः ॥१॥

ब्रह्म ज्ञाप्यते तत्रोपाधा एव भिद्यन्ते नोपेयस्य भेदोऽस्तीति । पुरेणासंहतत्वं स्वामिनः पुरोपचयापचयाभ्यामुपचयापचयराहित्यम् । तत्सत्ताप्रतीतिमन्तरेण सत्ताप्रतीतिमत्त्वं स्वातन्त्र्यम् ॥१॥

क्योंकि इस शरीर रूपी पुर में भी द्वारपाल अधिष्ठाता रूप न्यायाधीश आदि नगर सम्बन्धी अनेकों सामग्री इस शरीररूप पुर में दीखती हैं और जैसे सम्पूर्ण उपकरणों के सहित पुर अपने से भिन्न किसी स्वतन्त्र उपभोक्ता के उपभोग के लिये देखा गया है, वैसे ही पुर से सादृश्य होने के कारण अनेक उपकरणों के सहित यह शरीर भी अपने से भिन्न राजस्थानापन्न अपने स्वामी के उपभोग के लिये होना चाहिये ।

यह शरीर नाम वाला पुर (दो आँखें, दो कान, दो नाक और एक मुख) ऐसे सात मस्तक सम्बन्धी एवं नाभि के सहित (शिश्न और गुदा मिलाकर) तीन निम्नभागीय तथा (ब्रह्म स्कन्ध रूप) इस प्रकार मस्तकस्थ एक द्वार, इन सभी द्वारों से युक्त होने के कारण एकादश द्वार वाला है। वह पुर है किसका ? इसका उत्तर देते हैं—अज का अर्थात् जो पुर के धर्मों से विलक्षण जन्मादि विकारों से रहित राजस्थानीय आत्मा है, साथ ही जो अवक्रचेता है। जैसे सूर्य नित्य प्रकाशस्वरूप है, वैसे ही जिसका विज्ञान नित्य अकुटिल है, उसी अवक्रचेता, अजन्मा, राजस्थानापन्न ब्रह्म का यह पुर है।

जिसका यह पुर है, उसका सम्यग्विज्ञानपूर्वक ध्यानरूप अनुष्ठान करके सम्पूर्ण एषणाओं से सर्वथा मुक्त होकर सम्पूर्ण भूतों में समभाव से स्थित उस ब्रह्म का ध्यान कर पुरुष शोक नहीं करता। ब्रह्म के विज्ञान से अभय की प्राप्ति हो जाती है, फिर शोक का अवसर नहीं रह जाता तो भला भय-दर्शन भी कैसे हो सकता है। अतः वह यहाँ पर जीवितावस्था में ही अविद्याकृत काम और कर्म के बन्धनों से सर्वथा मुक्त हो जाता है। इस प्रकार वह जीवन्मुक्त हुआ पुरुष ही प्रारब्ध क्षय के अनन्तर विदेहकैवल्य को प्राप्त करता है। तात्पर्य यह कि वह पुनः शरीर ग्रहण नहीं करता ॥१॥

दुरोणसत् । नृषद्वरसदृतसद्व्योमसदब्जा गोजा ऋतजा अद्रिजा ऋतं बृहत् ॥२॥

होने से होता (अग्नि) है, कलश में स्थित अतिथि (सोम) है, या अतिथि रूप से घर में आने के कारण वह अतिथि दुरोणसत् कहलाता है। (ऐसे ही वह) मनुष्यों में गमन करने वाला नृषत् कहलाता है। देवताओं में गमनशील वरसत् है। सत् या यज्ञ में जाने वह ऋतसत् कहा जाता है। आकाश में चलने से व्योमसत् है। जल में शङ्खादि रूप से रहने के कारण अब्जा और पृथिवी में यवादि रूप से उत्पन्न होने के कारण गोजा कहा गया है। यज्ञान्नरूप से उत्पन्न ऋतजा है और नदी आदि रूप में पर्वतों से उत्पन्न होने के कारण अद्रिजा है। त्रिकालाबाध्य होने से सत्यस्वरूप और सबका कारण होने से महान् है ॥२॥

स तु नैकशरीरपुरवर्त्येवाऽऽत्मा किं तर्हि सर्वपुरवर्ती। कथम्—

हंसो हन्ति गच्छतीति, शुचिषच्छुचौ दिव्यादित्यात्मना सीदतीति। वसुर्वासयति सर्वानिति। वाय्वात्मनाऽन्तरिक्षे सीदतीत्यन्तरिक्षसत्। होताऽग्निः, "अग्निर्वै होते" ति श्रुतेः। वेद्यां पृथिव्यां सीदतीति वेदिषत्, "इयं वेदिः परोऽन्तः पृथिव्याः" (ऋ.वेद) इत्यादिमन्त्रवर्णात्। अतिथिः सोमः सन्दुरोणे कलशे सीदतीति दुरोणसत्। ब्राह्मणोऽतिथिरूपेण वा दुरोणेषु गृहेषु सीदतीति। नृषन्नृषु मनुष्येषु सीदतीति नृषत्। वरसद्वरेषु देवेषु सीदतीति। ऋतसदृतं सत्यं यज्ञो वा तस्मिन्सीदतीति। व्योमसद्व्योम्न्याकाशे सीदतीति व्योमसत्। अब्जा अप्सु शङ्खशुक्तिमकरादिरूपेण जायत इति। गोजा गवि पृथिव्यां व्रीहियवादिरूपेण जायत इति। ऋतजा यज्ञाङ्गरूपेण जायत इति। अद्रिजाः

या यज्ञ प्रसिद्धा वेदिः पृथिव्याः परोऽन्तः [1]'परः स्वभाव इति वेद्याः पृथिवीस्वभावत्वसंकीर्तनात्पृथिवी वेदिशब्दवाच्या भवतीत्यर्थः। असौ वा आदित्यो हंसः शुचिषदिति ब्राह्मणेनाऽऽदित्यो

किन्तु वह आत्मा केवल एक ही शरीररूप पुर में नहीं रहता, प्रत्युत सभी पुरों में रहता है। कैसे? इसे बतलाते हैं—वह गमन करता है इसीलिये हस है। आकाश में सूर्यरूप से चलता है, अतः शुचिषत् है। सबको व्याप्त कर रखा है, इसीलिये वसु है। आकाश में वायुरूप से चलता है, अतः अन्तरिक्ष में सत् है। "अग्नि ही होता है" इस श्रुति के अनुसार अग्नि को 'होता' कहते हैं। पृथिवी में गमन करता है, इसलिए वेदिषत् है। "यह वेदि पृथिवी का उत्कृष्ट मध्य भाग है" इस मन्त्र वर्ण से प्रमाणित होता है कि पृथिवी को वेदिशब्द से भी कहा जाता है। यह अतिथि अर्थात् सोम होकर कलश में स्थित होता है। इसलिये इसको दुरोणसत् कहते हैं अथवा अतिथिरूप से ब्राह्मण घरों में रहता है। इसीलिये अतिथि को दुरोणसत् कहते हैं। वह मनुष्यों में रहता है, इसीलिये नृषत् कहा गया है। देवताओं में रहता है, अतः उसे वरसत् कहा गया है। ऋत शब्द का अर्थ सत् और यज्ञ भी है, उसमें रहने के कारण उसे ऋतसत् कहते हैं। आकाश में चलता है, इसलिये व्योमसत् है। जल में शङ्ख,

---

१. परः स्वभावः—अपरं रूपमित्यर्थः।

ऊर्ध्वं प्राणमुन्नयत्यपानं प्रत्यगस्यति । मध्ये वामनमासीनं विश्वे देवा उपासते ॥३॥

(जो हृदय देश से) प्राण वृत्ति को ऊपर की ओर ले जाता है और अपान को नीचे की ओर धकेलता है; हृदय कमल में रहने वाले उस सम्भजनीय की सभी देव उपासना करते हैं ॥३॥

पर्वतेभ्यो नद्यादिरूपेण जायत इति । सर्वात्माऽपि सन्नृतमवितथस्वभाव एव । बृहन्महान्सर्वकारणत्वात् । यदाऽप्यादित्य एव मन्त्रेणोच्यते तदाऽप्यस्याऽऽत्मस्वरूपत्वमादित्यस्याङ्गी(त्यस्येत्यङ्गी)कृतत्वाद्ब्राह्मणव्याख्यानेऽप्यविरोधः । सर्वव्याप्येक एवाऽऽत्मा जगतो नाऽऽत्मभेद इति मन्त्रार्थः ॥२॥

आत्मनः स्वरूपाधिगमे लिङ्गमुच्यते—

ऊर्ध्वं हृदयात्प्राणं प्राणवृत्तिं वायुमुन्नयत्यूर्ध्वं गमयति । तथाऽपानं प्रत्यगधोऽस्यति क्षिपति य इति वाक्यशेषः । तं मध्ये हृदयपुण्डरीकाकाश आसीनं बुद्धावभिव्यक्तविज्ञानप्रकाशं वामनं संभजनीयं विश्वे सर्वे देवाश्चक्षुरादयः प्राणा रूपादिविज्ञानं

मन्त्रार्थतया व्याख्यातः कथं तद्विरुद्धमिदं व्याख्यातमित्याशङ्क्याऽऽह—यदाऽप्यादित्य एवेति । सूर्य आत्मा 'जगतस्[1] तस्थुषश्[2]चेति मन्त्रान्मण्डलोपलक्षितस्य चिद्धातोरिष्यत एव सर्वात्मत्वमित्यर्थः ॥२॥

येयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्य इति या पूर्वं विचिकित्सा प्रश्नमूलत्वेनोद्भाविता साऽपि निर्मूलेत्येतद्दर्शयितुं देहव्यतिरिक्तात्मास्तित्वं साधयति—आत्मनः स्वरूपाधिगम इत्यादिना । सर्वं प्राणकरण-

---

सीपी और मकर आदि रूपों से उत्पन्न होता है, इसलिये उसे अब्जा कहा है । पृथिवी में व्रीहि-यवादि रूप से उत्पन्न होता है, इसलिये उसे गोजा कहते हैं । यज्ञांग को ऋतं शब्द से कहा कहा गया है, अतः यज्ञांगरूप से उत्पन्न होने के कारण उस ब्रह्म को ऋतजा कहते हैं । नदी आदि रूप के रूप में पर्वतों से उत्पन्न है, इसलिये उसे अद्रिजा कहते हैं । इस प्रकार सर्वात्मा होकर भी वह परमात्मा अवितथ स्वभाव ही है एवं सबका कारण होने से महान् है । असौ वाऽऽदित्यो हंसः इत्यादि ब्राह्मण मन्त्र के अनुसार यदि इस मन्त्र द्वारा आदित्य का वर्णन किया गया है, ऐसा माना जाय तो भी (सूर्यः आत्मा जगतस्तस्थुषश्च) इस चराचर जगत् का आत्मा आदित्य है, ऐसा मानने के कारण इसका ब्राह्मण ग्रन्थ की व्याख्या से कोई विरोध नहीं आता । अतः इस मन्त्र का तात्पर्य अर्थ यही है कि जगत् का आत्मा एक ही सर्वव्यापक तत्त्व है; उन आत्माओं में भेद नहीं है ॥२॥

आत्मा का स्वरूप ज्ञान करने में ज्ञापक कहा जाता है । प्राणवृत्तिरूप वायु को जो हृदय से ऊपर की ओर ले जाता है तथा अपान को नीचे की ओर ले जाता है, "यह पदवाक्य का शेष है" । हृदय-कमलवर्ती आकाश के भीतर रहने वाली बुद्धि में विज्ञानरूप से प्रकट होने वाले भजनीय वामन देव की उपासना चक्षुरादि सभी इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयों के ज्ञान के उपहार भेंट करती हुई कहती

---

१. जगतो जङ्गमस्य । २. तस्थुषः स्थावरस्येत्यर्थः ।

**अस्य विस्रंसमानस्य शरीरस्थस्य देहिनः । देहा-
द्विमुच्यमानस्य किमत्र परिशिष्यते । एतद्वै तत् ॥४॥**

इस शरीरस्थ देही आत्मा के भ्रष्ट हो जाने पर इस प्रणादि समुदाय में क्या शेष रह जाता है ? अर्थात् कुछ भी शेष नहीं रहता । यही वह ब्रह्म है ॥४॥

बलिमुपाहरन्तो विश इव राजानमुपासते तादर्थ्येनानुपरतव्यापारा भवन्तीत्यर्थः । यदर्था यत्प्रयुक्ताश्च सर्वे वायुकरणव्यापाराः सोऽन्यः सिद्ध इति वाक्यार्थः ॥३॥

किञ्च—

अस्य शरीरस्थस्याऽऽत्मनो विस्रंसमानस्यावस्रंसमानस्य भ्रंशमानस्य देहिनो देहवतः । विस्रंसनशब्दार्थमाह—देहाद्विमुच्यमानस्येति । किमत्र परिशिष्यते प्राणादि-कलापे न किंचन परिशिष्यतेऽत्र देहे पुरस्वामिनो विद्रवण इव पुरवासिनां यस्या-ऽऽत्मनोऽपगमे क्षणमात्रात्कार्यकरणकलापरूपं सर्वमिदं हतबलं विध्वस्तं भवति विनष्टं भवति सोऽन्यः सिद्धः ॥४॥

स्यान्मतं प्राणापानाद्यपगमादेवेदं विध्वस्तं भवति न तु तद्व्यतिरिक्तात्मापगमात्प्रा-णादिभिरेव हि मर्त्यो जीवतीति । नैतदस्ति—

व्यापाराश्चेतनार्थास्तत्प्रयुक्ता भवितुमर्हन्ति जडचेष्ट(ष्टा)त्वाद्रथचेष्टावदित्यर्थः ॥३॥

शरीरं चेतनशेषं तद्विगमे भोगानर्हत्वाद्राजपुरवदित्यर्थः । विध्वस्तमिति ॥४॥

अन्यथासिद्धिं शङ्कते—स्यान्मतमिति । ननु जीव प्राणधारण इति धातुस्मरणाच्छरीरस्य

हैं—जैसे व्यापारी वर्ग वैश्य लोग शुल्क देते हुए अपने शासक राजा की उपासना करता है । तात्पर्य यह है कि उस आत्मा के लिये ही चक्षुरादि करण अपना व्यापार नहीं छोड़ते । अतः जिसकी प्रेरणा से प्राण और इन्द्रियों के समस्त व्यापार जिसके लिबे होते हैं, वह प्रेरक एवं स्वामी उस करण समुदाय से भिन्न सिद्ध हुआ, यही इस बाक्य का तात्पर्य है ॥३॥

आत्मा ही जीवन

इस शरीर में स्थित देही आत्मा के देह से पृथक् हो जाने पर इस प्राणादिकरण समुदाय में भला क्या शेष रह जाता है अर्थात् कुछ भी नहीं रहता । यहाँ पर विस्रंसन शब्द का अर्थ देह से जीवात्मा का वियोग जैसे नगर के स्वामी के चले जाने पर नागरिकों की स्थिति दयनीय हो जाती है, वैसे ही इस शरीर में जिस आत्मा के चले जाने पर तत्क्षण ही यह भूत और इन्द्रियों का समुदाय सब के सब बलहीन विध्वस्त अर्थात् विनष्ट हो जाते हैं; वह आत्मा इस संघात से भिन्न ही सिद्ध होता है ॥४॥

यदि ऐसा माना जाय की प्राण और अपानादि वायु के शरीर से निकल जाने पर ही शरीर

न प्राणेन नापानेन मर्त्यो जीवति कश्चन ।
इतरेण तु जीवन्ति यस्मिन्नेतावुपाश्रितौ ॥५॥

कोई भी देहधारी मानव न तो प्राण से न अपान से ही जीता है; किन्तु जिसमें ये दोनों आश्रित हैं ऐसे किसी अन्य से ही जीवित रहते हैं ॥५॥

न प्राणेन नापानेन चक्षुरादिना वा मर्त्यो मनुष्यो देहवान्कश्चन जीवति न कोऽपि जीवति । न ह्येषां परार्थानां संहत्यकारित्वाज्जीवनहेतुत्वमुपपद्यते । स्वार्थेनासंहतेन परेण केनचिदप्रयुक्तं संहतानामवस्थानं न दृष्टं गृहादीनां लोके, तथा प्राणादीनामपि संहतत्वाद्भवितुमर्हति । अत इतरेणैव संहतप्राणादिविलक्षणेन तु सर्वे संहताः सन्तो जीवन्ति प्राणान्धारयन्ति । यस्मिन्संहतविलक्षण आत्मनि सति परस्मिन्नेतौ प्राणापानौ चक्षुरादिभिः संहतावुपाश्रितौ, यस्यासंहतस्यार्थे प्राणापानादिः स्वव्यापारं कुर्वन्वर्तते संहतः सन्स ततोऽन्यः सिद्ध इत्यभिप्रायः ॥ ५ ॥

जीवनं नाम प्राणधारणं प्राणसंयोगश्च प्राणधारणं कुण्डे दधिधारणवत्तत्र च प्राणस्यैव हेतुत्वं [१]संयोगाश्रयत्वात् । कथमुच्यते जीवनहेतुत्वं प्राणादीनां न सम्भवतीति तत्राऽऽह—स्वार्थेनासंहतेनेति । कादाचित्कस्य प्राणशरीरसंयोगस्य स्वभावतोऽनुपपत्तेः संघातस्य च लोके परप्रयुक्तस्यैव दर्शनाद्भवितव्यमन्येन संघातप्रयोजकेनेत्यर्थः ॥५॥

नष्ट हो जाता है, उनसे भिन्न किसी आत्मा के निकलने से नहीं; क्योंकि प्राणादि के कारण से ही मनुष्य जीवित रहता है ।

ऐसा कहना ठीक नहीं; क्योंकि कोई भी देहधारी पुरुष न तो प्राण से जीवित रहता है और न अपान या चक्षुरादि इन्द्रियों से ही; क्योंकि परस्पर मिल-जुलकर प्रवृत्त होने वाले और किसी दूसरे के सहायक रूप इन इन्द्रिय आदि को जीवन-हेतुत्व कहना उचित नहीं । लोक में देखा गया है कि संघात से पृथक् किसी स्वतन्त्र चेतन की प्रेरणा बिना गृहादि संघात पदार्थों की स्थिति नहीं रह जाती, वैसे ही प्राणादि-संघात रूप हैं, इनकी स्थिति स्वतन्त्र नहीं हो सकती है । इसलिये ये प्राणादि-संघात मिलकर अपने से भिन्न किसी चेतन के द्वारा ही जीवित रहते हैं अर्थात् प्राण धारण करते हैं । संघात से विलक्षण जिस चेतनस्वरूप परमात्मा के रहते हुए ही प्राणापान चक्षुरादि करणों के साथ मिल-जुलकर आश्रित हैं, वह आत्मा उनसे भिन्न सिद्ध होता है । तात्पर्य यह है कि आत्मा प्राण-अपानादि-संघात से विलक्षण स्वभाव और भिन्न है, उसी के लिये प्राण-अपानादि मिल-जुलकर अपने-अपने व्यापार को करते हुये विद्यमान रहते हैं ॥५॥

---

१. संयोगाश्रयत्वादिति—प्रतियोगितासम्बन्धेन संयोगाश्रयत्वादित्यर्थः । संयोगप्रतियोगित्वादिति यावत् । प्रतियोगी हि निरूपकत्वाद्भवति हेतुरिति भावः ।

हन्त त इदं प्रवक्ष्यामि गुह्यं ब्रह्म सनातनम् ।
यथा च मरणं प्राप्य आत्मा भवति गौतम ॥६॥
योनिमन्ये प्रपद्यन्ते शरीरत्वाय देहिनः ।
स्थाणुमन्येऽनुसंयन्ति यथाकर्म यथाश्रुतम् ॥७॥

हे गौतम ! अब मैं तुम्हें फिर भी इस गोपनीय सनातन ब्रह्म को अच्छी प्रकार बतलाऊँगा, तथा (ब्रह्म को न जानने से) मरकर आत्मा जैसा होता है वैसा ही मैं बतलाऊँगा ॥६॥

(अज्ञानी देहाभिमानी) अपने कर्म और चिन्तन के अनुरूप कितने ही शरीर धारण करने के लिये किसी योनि में चले जाते हैं और कुछ लोग स्थावर भाव को प्राप्त होते हैं ॥७॥

हन्तेदानीं पुनरपि ते तुभ्यमिदं गुह्यं गोप्यं ब्रह्म सनातनं चिरंतनं प्रवक्ष्यामि । यद्विज्ञानात्सर्वसंसारोपरमो भवति, अविज्ञानाच्च यस्य मरणं प्राप्य यथाऽऽत्मा भवति यथा संसरति तथा शृणु, हे गौतम ! ॥ ६ ॥

योनिं योनिद्वारं शुक्रबीजसमन्विताः सन्तोऽन्ये केचिदविद्यावन्तो मूढाः प्रपद्यन्ते शरीरत्वाय शरीरग्रहणार्थं देहिनो देहवन्तः, योनिं प्रविशन्तीत्यर्थः । स्थाणुं वृक्षादिस्थावरभावमन्येऽत्यन्ताधमा मरणं प्राप्यानुसंयन्त्यनुगच्छन्ति । यथाकर्म यद्यस्य कर्म तद्यथाकर्म यैर्यादृशं कर्मेह जन्मनि कृतं तद्वशेनेत्येतत् । तथा च यथाश्रुतं यादृशं च

येयं प्रेत इति प्रष्टुः [1]परलोकेऽस्तित्वेऽपि संदेह आसीत् । विशेषतस्तन्निवृत्त्यर्थमुच्यत इत्याह—हन्तेदानीमिति ॥६॥

मरण के बाद जीव की गति

अहो ! अब मैं तुम्हें फिर भी इस गोपनीय चिन्तन ब्रह्म को बतलाऊँगा, जिसके अपरोक्षानुभव से सम्पूर्ण संसार मिट जाता है और जिसके न जानने से मरकर आत्मा जैसा भो होता है अर्थात् जिस प्रकार जन्म-मरणादि संसार को प्राप्त होता है, हे गौतम ! अब उसे सुन ॥६॥

कुछ एक अज्ञानी प्राणी शुक्ररूप बीज से संयुक्त हो देह धारण के लिये योनिद्वार को प्राप्त होते हैं अर्थात् किसी योनि में प्रविष्ट हो जाते हैं। दूसरे अत्यन्त अधम जीव मरकर (अपने कर्म और वासना के अनुरूप) वृक्षादि स्थावर भाव का अनुगमन करते हैं अर्थात् जिसका जैसा कर्म या इस जन्म में जिसने जैसा कर्म किया है और जिसने जैसे विज्ञान का उपार्जन किया है, उसके अधीन तदनुरूप

---

१. परलोकेऽस्तित्वेऽपीति—परलोके देहातिरिक्तस्यात्मनोऽस्तित्वेऽपीत्यर्थः । स्थाण्वादिविशेषरूपेणास्तित्वे तु किमु वक्तव्यमित्यर्थः । परलोकास्तित्वेऽपीति वा पाठः । परलोके संदेह आसीदिति लिखितपुस्तके पाठः ।

य एष सुप्तेषु जागर्ति कामं कामं पुरुषो निर्मिमाणः । तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते । तस्मिँल्लोकाः श्रिताः सर्वे तदु नात्येति कश्चन । एतद्वै तत् ॥८॥

प्राण आदि के सो जाने पर (अविद्या के बल से स्त्री आदि) अपने-अपने अभीष्ट पदार्थों को रचना करता हुआ जो यह जागता रहता है वही शुद्ध है वह ब्रह्म है और वही (सभी शास्त्रों में) अमृत कहा जाता है। उसमें ही पृथिव्यादि सम्पूर्ण लोक आश्रित है। उसका कोई भी अतिक्रमण नहीं कर सकता। यही वह ब्रह्म हैं ॥८॥

विज्ञानमुपार्जितं तदनुरूपमेव शरीरं प्रतिपद्यन्त इत्यर्थः। "यथाप्रज्ञं हि संभवाः" (ऐ. आ. २-३-२) इति श्रुत्यन्तरात् ॥७॥

यत्प्रतिज्ञातं गुह्यं ब्रह्म वक्ष्यामीति तदाह—

य एष सुप्तेषु प्राणादिषु जागर्ति न स्वपिति। कथम्? कामं कामं तं तमभिप्रेतं स्त्र्याद्यर्थमविद्यया निर्मिमाणो निष्पादयञ्जागर्ति पुरुषो यस्तदेव शुक्रं शुभ्रं शुद्धं तद्ब्रह्म नान्यद्गुह्यं ब्रह्मास्ति। तदेवामृतमविनाश्युच्यते सर्वशास्त्रेषु। किञ्च पृथिव्यादयो लोकास्तस्मिन्नेव सर्वे ब्रह्मण्याश्रिताः सर्वलोककारणत्वात्तस्य। तदु नात्येति कश्चनेत्यादि पूर्ववदेव ॥ ८ ॥

॥७॥

॥८॥

शरीर को ही प्राप्त होते हैं। "अपनी बुद्धिजनित बासना के अनुरूप ही जन्म होते हैं" ऐसी एक अन्य श्रुति से भी यही बात सिद्ध होती है ॥७॥

गुह्य ब्रह्म का उपदेश

जिस गोपनीय ब्रह्म को मैं तुझे बतलाऊँगा, ऐसी प्रतिज्ञा की थी, उसे कहते हैं—प्राणादि इन्द्रियों के सो जाने पर जो यह जागता रहता है तथा उनके साथ सोता नहीं है। किस प्रकार जागता है? उसे भी बतलाते हैं—अविद्या के बल से स्त्री आदि उन-उन अपने अभीष्ट पदार्थों की रचना करता हुआ जो पुरुष जागता रहता है, वही शुद्ध वह ब्रह्म है, उससे भिन्न कोई गोपनीय ब्रह्म नहीं है। सभी शास्त्रों में वही अमृत अर्थात् मधुर और अविनाशी कहा गया है। इतना ही नहीं—प्रत्युत उस ब्रह्म में ही पृथिव्यादि सम्पूर्ण लोक आश्रित हैं; क्योंकि वह सभी लोकों का कारण है। इसीलिये कोई भी उसका अतिक्रमण कर नहीं सकता। निःसन्देह यही वह ब्रह्म है, इत्यादि व्याख्या पूर्व की भाँति समझ लेनी चाहिये ॥८॥

अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव ।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च ।६॥

जैसे एक ही प्रकाशस्वरूप अग्नि सम्पूर्ण भुवन में प्रविष्ट हुआ काष्ठादि भिन्न-भिन्न दाह्य पदार्थ के अनुरूप हो जाता है, वैसे ही एक ही सम्पूर्ण भूतों का अन्तरात्मा उनके रूप के अनुरूप हो रहा है तथा (आकाश के समान अपने अविकारी रूप से उनसे) बाहर भी है ॥६॥

अनेकतार्किककुबुद्धिविचालितान्तःकरणानां प्रमाणोपपन्नमप्यात्मैकत्वविज्ञानमसकृदुच्यमानमृजुबुद्धीनां ब्राह्मणानां चेतसि नाऽऽधीयत इति तत्प्रतिपादन आदरवती पुनः पुनराह श्रुतिः—

अग्निर्यथैक एव प्रकाशात्मा सन्भुवनं भवन्त्यस्मिन्भूतानीति भुवनमयं लोकस्त-

---

[1]जन्ममरणकरणानां प्रति[प्राणि]नियमादयुगपत्प्रवृत्तेश्च पुरुषबहुत्वं सिद्धं त्रैगुण्यविपर्ययाच्चेति नानात्मानो व्यवस्थिता इत्यनेकतार्किकबुद्धिविरोधात्सर्वपुरवर्त्येक एवाऽऽत्मेत्यत्र न विस्रस्थैर्यं सम्भवतीत्याशङ्क्यौपाधिकभेदसाधने सिद्धसाधनं स्वाभाविकभेदसाधने चानैकान्तिकत्वं दर्शयितुं प्रक्रमत इत्याह—अनेकतार्किकेत्यादिना । प्रतिरूप उपाधिसदृशश्चतुष्कोणत्वादिधर्मके हि दारुणि

आत्मा में औपाधिक प्रतिरूपत्व

जिनका अन्तःकरण अनेक तार्किकों की कुबुद्धि द्वारा विचलित कर दिया गया है इसीलिये जिनकी बुद्धि सरल नहीं है, उन ब्रह्मजिज्ञासु ब्राह्मणों के चित्त में प्रमाण सिद्ध होने पर भी आत्मैकत्व-विज्ञान बारम्बार कहे जाने पर भी स्थिर नहीं होता। अतः ऐसे साधक के लिये उस आत्मैकत्व-विज्ञान प्रतिपादन में आदर रखने वाली श्रुति बार-बार कहती है। जिसमें सभी जीव उत्पन्न होते हैं;

---

१. पुरुषनानात्वाभिमति सांख्यानां तत्कारिकयाऽऽह—जन्मेत्यादिना । एवेत्यार्यान्त्यशेषः । आत्मन एकत्वे सत्येकस्मिञ्जाते मृते वा सर्व एव जाता मृता वा स्युः । एकस्मिन् सचक्षुषि सर्व एव सचक्षुषः स्युरेकेन दृष्टे सर्वे द्रष्टारः स्युर्न च तथा, तस्माद्बहवः पुरुषा इति भावः । किं च एकस्य धर्मेऽन्यस्य ज्ञानेऽपरस्य वैराग्य इतरस्यैश्वर्ये परस्य कामादावित्येवं प्रवृत्तिभेदादप्यात्मनानात्वमन्यथा हि सर्वेषामेकस्मिन्नेवार्थे युगपत्प्रवृत्तिः स्यादिति । किं च त्रैगुण्यविपर्ययाच्चैव । एवकारो भिन्नक्रमः सिद्धमित्यस्यानन्तरं द्रष्टव्यः । त्रयो गुणास्त्रैगुण्यं तस्य विपर्ययः परिणामभेदः क्वचित्सुखमेव क्वचिद्दुःखमेव क्वचिन्मोह एवेत्येवंविधस्तस्मात् । यद्वा त्रैगुण्येन विपर्ययो भेदः सात्त्विकराजसतामसानां पुरुषाणां तस्मात् । एकत्वे हि सर्वे सुखिनो दुःखिनो वा स्युः । एवं त्रैगुण्यभेदेन नीचोत्तममध्यमव्यवस्थाऽपि न स्यात् । न चान्तःकरणभेदात्तथेति वाच्यमन्तःकरणभेदे पुरुषभेदस्यैव बीजत्वादन्यथा तद्भेदस्याप्रमाणकत्वादिति सांख्यवचनार्थः ।

वायुर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव। एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च ॥१०॥

जैसे एक ही वायु प्राण रूप से इस लोक (देह) में प्रविष्ट हुआ प्रत्येक रूप के अनुरूप हो रहा है। वैसे ही सम्पूर्ण भूतों का अन्तरात्मा एक ही प्रत्येक रूप के अनुरूप हो रहा है और उनसे बाहर भी है ॥१०॥

मिमं प्रविष्टोऽनुप्रविष्टः। रूपं रूपं प्रति दार्वादिदाह्यभेदं प्रतीत्यर्थः। प्रतिरूपस्तत्र तत्र प्रतिरूपवान्दाह्यभेदेन बहुविधो बभूव। एक एव तथा सर्वभूतान्तरात्मा सर्वेषां भूतानामभ्यन्तर आत्माऽतिसूक्ष्मत्वाद्दार्वादिष्विव सर्वदेहं प्रति प्रविष्टत्वात्प्रतिरूपो बभूव बहिश्च स्वेनाविकृतेन[स्व]रूपेणाऽऽकाशवत् ॥ ९ ॥

तथाऽन्यो दृष्टान्तः—

वायुर्यथैक इत्यादि। प्राणात्मना देहेष्वनुप्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूवेति स-(वेत्यादि स)मानम् ॥ [1] ।

एकस्य सर्वात्मत्वे संसारदुःखित्वं परस्यैव तदिति प्राप्तमत इदमुच्यते—

तद्रूपो बह्निरपि लक्ष्यत इत्यर्थः ॥९॥

॥१०॥

परमात्मा दुःखी स्याद्दुःखा(ख्य)भिन्नत्वाल्लोकवदित्याह—एकस्य सर्वात्मत्व इति।

ऐसे भुवन में जिस प्रकार एक ही प्रकाश स्वरूप अग्नि उसी इस लोक में अनुप्रविष्ट हुआ काष्ठादि भिन्न-भिन्न प्रत्येक दाह पदार्थों के अनुरूप हो जाता है एवं उस-उस पदार्थ के अनुरूप हुआ दाह्य भेद से अनेक प्रकार का हो जाता है; वैसे ही सम्पूर्ण भूतों का एक ही अन्तरात्मा अत्यन्त सूक्ष्म होने के कारण काष्ठादि में प्रविष्ट अग्नि की भाँति सम्पूर्ण देहों में प्रविष्ट रहने के कारण उन देहरूप उपाधियों के अनुरूप हो गया है, पर वास्तव में आकाश के समान अपने निर्विकार स्वरूप से उन उपाधियों के बाहर भी है ॥९॥

ऐसा ही एक अन्य दृष्टान्त भी है। जिस प्रकार एक ही वायु प्राणरूप से देहों में अनुप्रविष्ट होता रहता है प्रत्येक देह उपाधि के अनुरूप हो रहा है, (वैसे ही सम्पूर्ण भूतों का एक ही अन्तरात्मा प्रत्येक रूप के अनुरूप होता है) इत्यादि व्याख्या पूर्व के समान ही समझनी चाहिये ॥१०॥

आत्मा की अलिप्तता

इस प्रकार सबकी आत्मा एक ही है। ऐसी स्थिति में संसार दुःख से उस परमात्मा का दुःखी होना भी सिद्ध होता है। अतः अग्रिम मन्त्र से उसकी असंगता बतलाते हैं—जैसे सूर्य आलोक द्वारा चक्षु

---

१. बभूवेति समानमित्येव लिखितपुस्तकस्य पाठः।

सूर्यो यथा सर्वलोकस्य चक्षुर्न लिप्यते चाक्षुषै-र्बाह्यदोषैः। एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा न लिप्यते लोकदुःखेन बाह्यः ॥११॥

जैसे (अपने प्रकाश से लोक का उपकार करता हुआ) सूर्य सम्पूर्ण लोक का नेत्र होकर भी अध्यात्मिक पाप दोष तथा अपवित्र पदार्थों के संसर्ग से होने वाले नेत्र सम्बन्धी बाह्य दोषों से लिप्त नहीं होता वैसे ही सम्पूर्ण भूतों का अन्तरात्मा एक ही (भ्रमजन्य) संसार के दुःख से लिप्त नहीं होता, बल्कि (रज्जु आदि के समान भ्रमबुद्धि जन्य अध्यास से) बाहर हो रहता है ॥११॥

सूर्यो यथा चक्षुष आलोकेनोपकारं कुर्वन्मूत्रपुरीषाद्यशुचिप्रकाशनेन तद्दर्शिनः सर्वलोकस्य चक्षुरपि सन्न लिप्यते चाक्षुषैरशुच्यादिदर्शननिमित्तैराध्यात्मिकैः पापदोषै-र्बाह्यैश्चाशुच्यादिसंसर्गदोषैः। एकः संस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा न लिप्यते लोकदुःखेन बाह्यः। लोको ह्यविद्यया स्वात्मन्यध्यस्तया कामकर्मोद्भवं दुःखमनुभवति। न तु सा परमार्थतः स्वात्मनि। यथा रज्जुशुक्तिकोखरगगनेषु सर्परजतोदकमलानि न रज्ज्वा-दीनां स्वतो दोषरूपाणि सन्ति। संसर्गिणि विपरीतबुद्ध्यध्यासनिमित्तात्तद्दोषवद्विभाव्यन्ते। न तद्दोषैस्तेषां लेपो विपरीतबुद्ध्यध्यासबाह्या हि ते। तथाऽऽत्मनि सर्वो

अविद्यायां प्रतिबिम्बितश्चिद्धातुरज्ञो भ्रान्तो भवति। भ्रान्तश्च कामादिदोषप्रयुक्तः कर्म कुरुते तन्निमित्तं च दुःखं स्वात्मन्यध्यस्यति। परमात्मा तु निरविद्यत्वाद्दुःखसाधनशून्यत्वान्न दुःखी ततो न प्रयोजको हेतुरित्याह—लोको ह्यविद्ययेति। स्वरूपेण भ्रमाविषयत्वं विपरीतबुद्ध्यध्यासबाह्यत्वं रज्ज्वादीनां तथा चैतन्यस्योपाधिस्वरूपेणाध्यासाश्रयत्वेऽपि निरुपाधिकबिम्बकल्पब्रह्मरूपेणाध्यासानाश्रयत्वान्न

का उपकार करता हुआ मल-मूत्रादि अपवित्र वस्तुओं को प्रकाशित करने के कारण उसे बाह्य दोष से लेप का प्रसंग नहीं आता और न अपवित्र वस्तु के दर्शन जन्य आध्यातिमक पाप दोष से ही उसका संसर्ग होता है; ठीक उसी प्रकार सम्पूर्ण भूतों का एक ही अन्तरात्मा भी लोकों के दुःख से लिप्त नहीं होता किन्तु लोक दुःख से बाहर ही रहता है।

अपने आत्मा में आरोपित अविद्या के कारण ही इच्छा और कर्म जनित दुःख का अनुभव लोक करता है किन्तु परमार्थतः वह अविद्या आत्मा में है नहीं। जैसे रज्जु, शुक्ति, मरुभूमि एवं आकाश में प्रतिभासित सर्प, जल और मलिनता अपने अधिष्ठान रज्जु आदि में स्वाभाविक दोषरूप नहीं हैं; क्योंकि ये कल्पित पदार्थ अपने अधिष्ठान को दूषित नहीं कर सकते, प्रत्युत उनके संसर्ग में आये हुए पुरुष में विपरीत बुद्धिरूप अध्यास होने के कारण ही वे अधिष्ठान उन-उन दोषों से लिप्त प्रतीत होते हैं। वास्तव में उन दोषों से उनका लेप होता ही नहीं; क्योंकि वे अधिष्ठान विपरीत बुद्धि जन्य अध्यास से बाहर ही तो हैं। इसी प्रकार सम्पूर्ण लोक भी रज्ज्वादि में कल्पित सर्पादि की भाँति अपने

एको वशी सर्वभूतान्तरात्मा एकं रूपं बहुधा यः करोति । तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम् ॥१२॥

जो एक स्वतन्त्र सम्पूर्ण भूतों का अन्तरात्मा अपने एक विशुद्ध विज्ञान स्वरूप को ही अनेक प्रकार से कर लेता है । अपनी बुद्धि में चैतन्य रूप से अभिव्यक्त उस आत्मदेव को जो धीर पुरुष देखते हैं, उन्हीं को नित्य सुख होता है; अन्य को नहीं ॥१२॥

लोकः क्रियाकारकफलात्मकं विज्ञानं सर्पादिस्थानीयं विपरीतमध्यस्य तन्निमित्तं जन्ममरणादिदुःखमनुभवति न त्वात्मा सर्वलोकात्माऽपि सन्विपरीताध्यारोपनिमित्तेन लिप्यते लोकदुःखेन । कुतः ? बाह्यः । रज्ज्वादिवदेव विपरीतबुद्ध्यध्यासबाह्यो हि स इति ॥११॥

किञ्च—

स हि परमेश्वरः सर्वगतः स्वतन्त्र एको न तत्समोऽभ्यधिको वाऽन्योऽस्ति । वशी सर्वं ह्यस्य जगद्वशे वर्तते । कुतः ? सर्वभूतान्तरात्मा । यत एकमेव सदैकरसमात्मानं विशुद्धविज्ञानरूपं नामरूपाद्यशुद्धोपाधिभेदवशेन बहुधाऽनेकप्रकारं यः करोति स्वात्मसत्तामात्रेणाचिन्त्यशक्तित्वात् । तमात्मस्थं स्वशरीरहृदयाकाशे बुद्धौ चैतन्या-

---

दुःखित्वप्राप्तिरित्यर्थः ॥११॥

परोत्कर्षदर्शनं पारतन्त्र्यं च स्वस्य हीनत्वं दुःखकारणं प्रसिद्धं तदभावान्न परमात्मा दुःखी ततस्तत्प्राप्तिः परः पुरुषार्थो भविष्यतीत्याह—किञ्च स हीत्यादिना ॥१२॥

आत्मा में क्रिया, कारक और फलरूप विपरीत ज्ञान का आरोप कर उसके निमित्त से होने वाले जन्म-मरणादि दुःखों का अनुभव करता है, किन्तु आत्मा सम्पूर्ण लोकों का अन्तरात्मा होता हुआ भी विपरीत कल्पना से होने वाले लौकिक दुःख से लिप्त नहीं होता । क्यों नहीं लिप्त होता है ? क्योंकि वह आत्मा रज्जु आदि के समान विपरीत बुद्धि एवं अध्यास से बाहर हो रह जाता है ॥११॥

आत्मज्ञानी को ही नित्य सुख प्राप्त होता है

तथा वह स्वतन्त्र और सर्वव्यापक परमेश्वर एक है । उसके समान या उससे बड़ा दूसरा कोई नहीं, सम्पूर्ण जगत् उसके अधीन है । इसलिये वह वशी कहा जाता है । उसके अधीन सम्पूर्ण जगत् कैसे है ? क्योंकि वह सम्पूर्ण भूतों का अन्तरात्मा है । इस प्रकार अचिन्त्य शक्ति सम्पन्न होने के कारण अपने एक नित्य सदा एकरस विशुद्ध विज्ञानस्वरूप आत्मा को ही नाम-रूपादि अशुद्ध उपाधि भेद से अपनी सत्तामात्र द्वारा जो अनेक प्रकार कर लेता है, उस अपने शरीरान्तवर्ती हृदयाकाशगत बुद्धि में चैतन्यरूप से अभिव्यक्त हुए (आत्मा को जो लोग देखते हैं, उन्हीं को नित्य सुख प्राप्त होता है)

नित्योऽनित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान् । तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां शान्तिः शाश्वती नेतरेषाम् ।।१३।।

जो अनित्य पदार्थों में नित्य ब्रह्मादि चेतन प्राणियों का भी चेतन है और जो अकेला ही (सङ्कल्प मात्र से सांसारिक) अनेकों की कामनाएँ पूर्ण करता है, जो धीर पुरुष अपनी बुद्धि में स्थित चैतन्य आत्मा को देखते है, उन्हीं की नित्य शाश्वत शान्ति मिलती है, औरों को नहीं ।।१३।।

कारेणाभिव्यक्तमित्येतत् । न हि शरीरस्याऽऽधारत्वमात्मनः । आकाशवदमूर्तत्वात् । आदर्शस्थं मुखमिति यद्वत् । तमेतमीश्वरमात्मानं ये निवृत्तबाह्यवृत्तयोऽनुपश्यन्ति आचार्यागमोपदेशमनु साक्षादनुभवन्ति धीरा विवेकिनस्तेषां परमेश्वरभूतानां शाश्वतं नित्यं सुखमात्मानन्दलक्षणं भवति नेतरेषां बाह्यासक्तबुद्धीनामविवेकिनां स्वात्मभूतमप्यविद्याव्यवधानात् ।। १२ ।।

किंच—

नित्योऽविनाश्यनित्यानां विनाशिनाम् । चेतनश्चेतनानां चेतयितॄणां ब्रह्मादीनां प्राणिनामग्निनिमित्तमिव दाहकत्वमनग्नीनामुदकादीनामात्मचैतन्यनिमित्तमेव चेत-

---

इदानीं परमात्मन्युपपत्तिदर्शनार्थमाह—किञ्च नित्य इति । सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयदित्यादिश्रुतेरकृताभ्यागमकृतविप्रणाशप्रसङ्गपरिहाराच्च कल्पान्तरीयभावानां प्रलीनानां कल्पान्तरे सजातीयरूपेणोत्पादः प्रतीयते । स तदा स्याद्यदि विनाशिनां भावानां शक्तिशेषो लयः स्यात् । ततः प्रलये विनश्यत्सर्वं यत्र शक्तिशेषं विलीयते सोऽभ्युपगन्तव्य इत्यर्थः । बुद्धिमतामपि ब्रह्मेन्द्रादीनां परमानन्दाभिमुख्यं हित्वा या बहिर्मुखा चेतनोपलभ्यते साऽपि नियन्तारं गमयतीत्याह— चेतनश्चेतना-

---

आकाश के समान अमूर्त होने के कारण आत्मा का आधार शरीर नहीं हो सकता, जिस प्रकार दर्पण में प्रतिबिम्बित मुख का आधार दर्पण नहीं है ।

जिनकी बाह्य वृत्तियाँ निवृत्त हो गयी हैं, ऐसे जो धीर विवेकी पुरुष उस ईश्वर स्वरूप आत्मा को देखते हैं अर्थात् आचार्य और शास्त्र के उपदेश के अनन्तर साक्षात् अनुभव करते हैं, परमात्मा के साथ अभिन्नता को प्राप्त हुए उन पुरुषों को निजानन्दरूप शाश्वत सुख प्राप्त होता है, दूसरे बाह्य विषयों में आसक्त चित्त अविवेकी पुरुषों को नहीं मिलता; क्योंकि यह सुख आत्मस्वरूप होता हुआ भी उन्हें अविद्यारूप व्यवधान के कारण व्यवहित प्रतीत होता है ।।१२।।

इसके अतिरिक्त जो नाशवान् पदार्थों में अविनाशी है, ब्रह्मादि अन्य चेतन प्राणियों का भी चेतन है, जैसे जल आदि दाह शक्ति शून्य पदार्थों में प्रतीत होने वाली दाहकता दाहक अग्नि के निमित्त से होती है; ठीक वैसे ही दूसरे प्राणियों में चेतनता आत्मचैतन्य के निमित्त से ही है । इतना

तदेतदिति मन्यन्तेऽनिर्देश्यं परमं सुखम् । कथं नु तद्विजानीयां किमु भाति विभाति वा ॥१४॥

उस इस (आत्म विज्ञान) को ही (प्राकृत पुरुषों के) मन वाणी के अविषय, परम सुख विवेकी मानते हैं, उसे मैं कैसे जान सकूँगा। क्या वह (वह हमारी बुद्धि का विषय होकर) प्रकाशित होता है या नहीं ॥१४॥

यितृत्वमन्येषाम् । किंच स सर्वज्ञः सर्वेश्वरः कामिनां संसारिणां कर्मानुरूपं कामान्कर्मफलानि स्वानुग्रहनिमित्तांश्च कामन्य एको बहूनामनेकेषामनायासेन विदधाति प्रयच्छतीत्येतत् । तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां शान्तिरुपरतिः शाश्वती नित्या स्वात्मभूतैव स्यान्नेतरेषामनेवंविधानाम् ॥१३॥

यत्तदात्मविज्ञानं सुखमनिर्देश्यं निर्देष्टुमशक्यं परमं प्रकृष्टं प्राकृतपुरुषवाङ्मनसयोरगोचरमपि सन्निवृत्तैषणा ये ब्राह्मणास्ते तदेतत्प्रत्यक्षमेवेति मन्यन्ते, कथं नु केन प्रकारेण तत्सुखमहं विजानीयाम् । इदमित्यात्मबुद्धिविषयमापादयेयं यथा निवृत्तैषणा यतयः । किमु तद्भाति दीप्यते प्रकाशात्मकं तद्यतोऽतोऽस्मद्बुद्धिगोचरत्वेन विभाति विस्पष्टं दृश्यते किंवा नेति ॥१४॥

मिति । ब्रह्मादिशब्दवाच्यानां संघातानां वा चेतयितृत्वं यच्चैतन्यनिमित्तं सोऽस्ति पर आत्मेत्यर्थः । विमतं कर्मफलं तत्स्वरूपाद्यभिज्ञेन दीयमानं व्यवहितफलत्वात्सेवाफलवदित्याह—किञ्च स इति ॥१३॥

विद्वदनुभवोऽपि परमानन्दे प्रमाणमित्याह—यत्तदात्मविज्ञानमिति । तस्मादसम्भावितत्वा न जिहासितव्यं परमात्मदर्शनं किंतु श्रद्धानतया विचारयितव्यमेवेत्याह—कथं न्विति ॥१४॥

ही नहीं बल्कि वह सर्वज्ञ और सर्वेश्वर भी है; क्योंकि वह अकेला ही किसी परिश्रम के बिना ही अनेक सकाम संसारी पुरुषों के कर्मानुसार भोग अर्थात् कर्म, फल एवं अपने अनुग्रह निमित्त से होने वाले भोग का भी विधान करता है। जो धीर विवेकी पुरुष अपने हृदयस्थ बुद्धि में स्थित उस आत्मदेव को देखते हैं, उन्हीं को स्वात्मभूता शाश्वती शान्तिरूप उपरति प्राप्त होती है, इनसे भिन्न लोगों को नहीं ॥१३॥

यह जो आत्मविज्ञान रूप सुख है। वह वाणी से निर्देश करने योग्य नहीं और परम है अर्थात् साधारण प्राकृत पुरुषों के वाणी और मन का विषय नहीं। फिर भी जो सभी प्रकार की एषणाओं से ऊपर उठे ब्राह्मण लोग हैं, वे उसे प्रत्यक्ष ही मानते हैं। उस आत्मसुख को मैं कैसे जान सकूँगा अर्थात् निवृत्त-एषणा यतियों के समान "वह यही है" इस प्रकार अपनी बुद्धि का विषय उसे कैसे बनाऊँगा ? क्योंकि जो स्वयं प्रकाश स्वरूप है, क्या वह हमारी बुद्धि का विषय होकर विस्पष्ट दीखता है या नहीं ॥१४॥

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः। तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ॥१५॥

इति काठकोपनिषदि प्रथमाध्याये द्वितीया वल्ली समाप्ता ॥२॥ (५)

वहाँ (आत्मस्वरूप ब्रह्म में) सूर्य प्रकाशित नहीं होता, चन्द्रमा तारे वहाँ प्रकाशित नहीं होते और यह विद्युत् भी नहीं चमकती है तो फिर इस अग्नि की तो बात ही क्या है? उसके प्रकाशित होने पर ही सब कुछ प्रकाशित होता है तथा उसके प्रकाश से ही यह सब भासता है ॥१५॥

॥ इति द्वितीयवल्ली ॥

अत्रोत्तरमिदं भाति च विभाति चेति। कथम्?—

न तत्र तस्मिन्स्वात्मभूते ब्रह्मणि सर्वावभासकोऽपि सूर्यो भाति तद्ब्रह्म न प्रकाशयतीत्यर्थः। तथा न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमस्मद्गोचरोऽग्निः। किं बहुना यदिदमादित्यादिकं सर्वं भाति तत्तमेव परमेश्वरं भान्तं दीप्यमानमनुभात्यनुदीप्यते। यथा जलोल्मुकाद्यग्निसंयोगादग्निं दहन्तमनु दहति न स्वतस्तद्वत्। तस्यैव भासा दीप्त्या सर्वमिदं सूर्यादि विभाति। यत एवं तदेव ब्रह्म भाति च विभाति च। कार्यगतेन विविधेन भासा तस्य ब्रह्मणो भारूपत्वं स्वतोऽवगम्यते। न हि स्वतोऽविद्यमानं भासनमन्यस्य कर्तुं शक्यम्। घटादीनामन्यावभासकत्वादर्शनाद्भासनरूपाणां

आत्मा सबका प्रकाशक होता हुआ अप्रकाश्य है

इस प्रश्न का उत्तर यही है कि वह भासता है (इतना ही नहीं, विशेषरूप से भासता है) कैसे? इस पर कहते हैं, उस अपने आत्मस्वरूप ब्रह्म में सबका प्रकाशक भी सूर्य प्रकाशित नहीं होता अर्थात् उस ब्रह्म को सूर्य प्रकाशित नहीं करता। ऐसे हीं चन्द्रमा, तारे और ये विद्युत भी उसको प्रकाशित नहीं करता। फिर भला, हमारी दृष्टि के विषय यह अग्नि उसे कैसे प्रकाश कर सकती है। बहुत क्या कहें जो ये सूर्यादि प्रकाशित होते हैं, वे उस प्रकाशस्वरूप परमात्मा के पीछे-पीछे प्रकाशित होते हैं। जैसे दाहक अग्नि के संयोग से जल और जलते हुए काष्ठादि (अन्य पदार्थों को) जलाते हैं, अग्नि संयोग के बिना स्वयं नहीं जला सकते; ठीक उसी प्रकार ब्रह्म के तेज से ही सूर्य आदि सभी प्रकाशित हो रहे हैं। जबकि ऐसी बात है, अतएव वही ब्रह्म प्रकाशित होता है और विशेषरूप से ही प्रकाशित होता है। जो स्वतः प्रकाशस्वरूप नहीं, वह दूसरे को भी प्रकाशित नहीं कर सकता। जैसे घटादि दूसरे के अवभासक नहीं देखे गये हैं, किन्तु प्रकाशस्वरूप आदित्यादि दूसरे को प्रकाशित करते हुए

---

१. विविधेन भासेति प्रयोगाद्भासशब्दस्य पुँल्लिङ्गत्वमनुमेयम्।

ऊर्ध्वमूलोऽवाक्शाख एषोऽश्वत्थः सनातनः ।
तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते । तस्मिँ-

जिसका मूल (व्यापक परमात्मा के परमपदरूप) ऊपर की ओर तथा (देव, नर, तिर्यगादि शरीररूप) शाखाएँ नीचे की ओर हैं, ऐसा यह अश्वत्थ वृक्ष अनादि होने से सनातन है। वही (संसार

चाऽऽदित्यादीनां तद्दर्शनात् ॥ १५ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यश्रीमदा-
चार्यश्रीशङ्करभगवतः कृतौ काठकोपनिषद्भाष्ये द्वितीयाध्याये
द्वितीयवल्लीभाष्यं समाप्तम् ॥२॥ (५)

तूलावधारणेनैव मूलावधारणं वृक्षस्य क्रियते लोके यथैवं संसारकार्यवृक्षावधारणेन तन्मूलस्य ब्रह्मणः स्वरूपावदिधारयिषयेयं षष्ठी वल्ल्यारभ्यते—

ऊर्ध्वमूल ऊर्ध्वं मूलं यत्तद्विष्णोः परमं पदमस्येति सोऽयमव्यक्तादिस्थावरान्तः संसारवृक्ष ऊर्ध्वमूलः । वृक्षश्च व्रश्चनात् । जन्मजरामरणशोकाद्यनेकानर्थात्मकः

॥१५॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमच्छुद्धानन्दपूज्यपादशिष्यानन्दज्ञानविरचिते
काठकोपनिषद्भाष्यव्याख्याने द्वितीयाध्याये द्वितीयवल्ली-
भाष्यटीका समाप्ता ॥२॥ (५)

शाल्मल्यादितूलदर्शनेनादृष्टमपि वृक्षमूलं यथाऽस्तीत्यवधार्यते तद्वददृष्टस्यापि ब्रह्मणोऽवधारणाय प्रक्रमत इत्याह—तूलावधारणेनेति । वृक्षशब्दे प्रवृत्तिनिमित्तमाह—व्रश्चनादिति । "ओव्रश्चू छेदने" अस्य धातोः सप्रत्ययान्तस्य रूपं वृक्ष इति । छेद्यत्वे युक्तिमाह–जन्मजरेत्यादिना । प्रसिद्धवृक्ष-

---

देखे गये हैं । अतः कार्यगत नाना प्रकार के प्रकाश से उस ब्रह्म की प्रकाशरूपता स्वतः अवगत हो जाती है ॥१५॥

॥ इति द्वितीय वल्ली ॥

अथ तृतीय वल्ली

अश्वत्थ वृक्ष के समान संसार का वर्णन

जिस प्रकार लोक में कार्य के निश्चय से ही वृक्ष के मूल कारण का निश्चय किया जाता है; ऐसे ही संसाररूप कार्यवृक्ष के निश्चय से उसके मूल कारण ब्रह्म के स्वरूप का निश्चय कराने की इच्छा से यह छठी वल्ली प्रारम्भ की जाती है। भगवान् विष्णु का जो वह परमपद है, वही जिसका मूल है ऐसा यह अव्यक्त से लेकर सागर पर्यन्त संसार वृक्ष ऊपर की ओर मूल वाला है। इसका छेदन हो जाने के कारण यह वृक्ष कहलाता है, जो जन्म, जरा, मरण और शोक आदि अनेक अनर्थरूप है,

श्लोकाः श्रिताः सर्वे तदु नात्येति कश्चन ।
एतद्वै तत् ॥१॥

वृक्ष का मूल कारण चैतन्य आत्म-स्वभाव) विशुद्ध ज्योति स्वरूप है। वही ब्रह्म और यही अमृत कहा जाता है। उसी ब्रह्म में सभी लोक (शुक्तिरजत की भाँति) आश्रित हैं उसका अतिक्रमण कोई कर नहीं सकता, निश्चय यही वह ब्रह्म है ॥१॥

प्रतिक्षणमन्यथास्वभावो मायामरीच्युदकगन्धर्वनगरादिवद्दृष्टनष्टस्वरूपत्वादवसाने च वृक्षवदभावात्मकः कदलीस्तम्भवन्निःसारोऽनेकशतपाखण्डबुद्धिविकल्पास्पदस्तत्त्वविजिज्ञासुभिरनिर्धारितेदंतत्त्वो वेदान्तनिर्धारितपरब्रह्ममूलसारोऽविद्याकामकर्माव्यक्तबीजप्रभवोऽपरब्रह्मविज्ञानक्रियाशक्तिद्वयात्मकहिरण्यगर्भाङ्कुरः सर्वप्राणिलिङ्गभेदस्कन्धस्तत्तृष्णाजलासेकोद्भूतदर्पो बुद्धीन्द्रियविषयप्रवालाङ्कुरः श्रुतिस्मृतिन्यायविद्योपदेशपलाशो यज्ञदानतपआद्यनेकक्रियासुपुष्पः सुखदुःखवेदनानेकरसः प्राण्युपजीव्यानन्तफलस्तत्तृष्णा-

---

साम्याद्वा वृक्षशब्दप्रयोग इत्यभिप्रेत्याऽऽह—अवसाने चेत्यादिना । प्रसिद्धो वृक्षः स्थाणुर्वा पुरुषो वेति विकल्पास्पदो दृष्टस्तथाऽयमपि संघातो वा परिणामो वाऽऽरब्धो वा सद्वाऽसद्वेत्यादीनामनेकेषां शतसंख्याकपाखण्डबुद्धिविकल्पानां विषय इत्यर्थः । किंसंज्ञकोऽयं वृक्ष इत्यनध्यवसायगोचरः कश्चिद्वृक्षो दृष्टस्तथाऽयमपीति साम्यान्तरमाह—तत्त्वविजिज्ञासुभिरिति । अपरब्रह्मणो विज्ञानक्रियाशक्तिद्वयात्मको हिरण्यगर्भः प्रथमोऽवस्थाभेदोऽङ्कुरोऽस्येति तथोक्तः । बुद्धीन्द्रियाणां विषयाः शब्दादयः प्रवालाङ्कुराः किसलयान्यस्येति स तथोक्तः । श्रुत्यादीनि पलाशानि पत्राण्यस्येति सुखदुःखे प्राणिवेदना एवानेको रसोऽस्येति । फलतृष्णैव सलिलावसेकस्तेन प्ररूढानि कर्मवासनादीनि सात्त्विकादिभावेन मिश्रीकृतानि

प्रतिक्षण परिवर्तनशील है, माया मृगतृष्णा के जल और गन्धर्व नगर आदि के समान देखते-देखते नष्ट हो जाने के कारण अन्त में वृक्ष के समान अभाव हो जाने वाला, केले के समान निःसार तथा सैकड़ों पाखण्डियों के बुद्धि के विकल्पों का आश्रय हैं, तत्त्वजिज्ञासुओं द्वारा 'इदम्' रूप से जिसका स्वरूप निर्धारित नहीं किया गया (सत्य पूछो तो) निर्णीत परब्रह्म जिसका मूल और सार है, जो अविद्या, कामना, कर्म एवं अव्यक्तरूप बीज से उत्पन्न होता है, ज्ञान और क्रिया ये दो जिसकी स्वरूपतः शक्तियाँ हैं, ऐसे शक्ति द्वय से विशिष्ट अपरब्रह्म हिरण्यगर्भ ही जिसका अंकुर है, सभी प्राणियों के सूक्ष्म शरीर ही जिसके स्कन्ध हैं, जो तृष्णारूप जल के सेचन से बढ़े हुए तेजवाला है; बुद्धि, इन्द्रियाँ और विषयरूप नूतन पल्लवरूप अंकुरवाला है; श्रुति, स्मृति, न्याय और ज्ञानोपदेशरूप पत्ते जिसके हैं; यज्ञ, दान, तप आदि अनेक क्रिया जिसके सुन्दर पुष्प हैं; सुख, दुःख और वेदनारूप अनेक रस जिसमें हैं; प्राणियों की आजीविकारूप अनन्त फल जिसमें हैं तथा फलों के तृष्णारूप जल के

सलिलावसेकप्ररूढजडीकृतदृढबद्धमूलः सत्यनामादिसप्तलोकब्रह्मादिभूतपक्षिकृतनीडः प्राणिसुखदुःखोद्भूतहर्षशोकजातनृत्यगीतवादित्रक्ष्वेलितास्फोटितहसिताकृष्टरुदितहाहामुञ्चमुञ्चेत्याद्यनेकशब्दकृततुमुलीभूतमहारवो वेदान्तविहितब्रह्मात्मदर्शनासङ्गशस्त्रकृतोच्छेद एष संसारवृक्षोऽश्वत्थोऽश्वत्थवत्कामकर्मवातेरितनित्यप्रचलितस्वभावः । स्वर्गनरकतिर्यक्प्रेतादिभिः शाखाभिरवाक्शाखः । सनातनोऽनादित्वाच्चिरं प्रवृत्तः । यदस्य संसारवृक्षस्य मूलं तदेव शुक्रं शुभ्रं शुद्धं ज्योतिष्मच्चैतन्यात्मज्योतिःस्वभावं तदेव ब्रह्म सर्वमहत्त्वात् । तदेवामृतमविनाशस्वभावमुच्यते कथ्यते सत्यत्वात् । वाचारम्भणं विकारो नामधेयमनृतमन्यदतो मर्त्यम् । तस्मिन्परमार्थसत्ये ब्रह्मणि लोका गन्धर्वनगरमरीच्युदकमायासमाः परमार्थदर्शनाभावावगमनाः श्रिता आश्रिताः सर्वे समस्ता उत्पत्तिस्थितिलयेषु । तदु तद्ब्रह्म नात्येति नातिवर्तते मृदादिमिव घटादिकार्यं कश्चन कश्चिदपि विकारः । एतद्वै तत् ॥ १ ॥

दृढबन्धनान्यवान्तरमूलान्यस्य वटवृक्षस्येव तथोक्तः । सत्यनामादिषु सप्तलोकेषु ब्रह्मादीनि भूतान्येव पक्षिणस्तैः कृतं नीडं यस्मिन् । प्राणिनां सुखदुःखाभ्यामुद्भूतौ हर्षशोकौ ताभ्यां यथासंख्येन जातानि नृत्यादीनि रुदितादिशब्दाश्चैतैः कृतस्तुमुलीभूतो महारवो यस्मिन्निति विग्रहः ॥१॥

सेचन द्वारा बढ़े हुए और सात्त्विक आदि भावों से वे निःसृत तथा दृढ़तापूर्वक स्थिर (कर्म वासनादिरूप अवान्तर) मूल जिसके हैं, ब्रह्मा आदि पक्षियों में जिसमें सत्यादि नामक सातलोकरूप घोंसले रखे हैं। प्राणियों के सुख-दुःख जनित हर्ष-शोक से उत्पन्न होने वाले नृत्य, गीत, वाद्य, वीणा, आस्फोटन, हँसी, आक्रन्दन, रोदन तथा हाय-हाय, छोड़दे-छोड़दे इत्यादि अनेक प्रकार के शब्दों की तुमुल ध्वनि से जो अत्यन्त गुञ्जायमान है, वेदान्त प्रतिपादित ब्रह्म और आत्मा का अभेद दर्शनरूप असङ्ग शस्त्र से जिसका उच्छेद सम्भव है, ऐसा यह संसार वृक्ष अश्वत्थ नामक है। तात्पर्य यह कि कामना और कर्मरूप वायु से सदा विचचित किया गया यह संसार वृक्ष अश्वत्थ के समान चञ्चल स्वभाव वाला है। स्वर्ग, नरक, तिर्यक् और प्रेतादि अधोगामी शाखाओं के कारण यह संसार वृक्ष नीचे की ओर फैली हुई शाखाओं वाला है। अनादि होने के कारण चिरकाल से प्रवर्तमान यह संसार वृक्ष सनातन है। इस संसार वृक्ष का जो मूल है, वही सूत्र, शुभ्र, शुद्ध ज्योतिर्मय अर्थात् चैतन्यात्मज्योति स्वभाव वाला है। सबसे महान् होने के कारण वही ब्रह्म है। त्रिकालाबाधित होने के कारण वही अमृत अविनाशी स्वभाव वाला कहा जाता है। विकार वाणी का विलासमात्र केवल कहने के लिये है। इसलिये ब्रह्म से भिन्न सभी नाशवान् वस्तुएँ मिथ्या हैं। उसी परमार्थ सत्य ब्रह्म में गन्धर्वनगर, मृगतृष्णिका का जल और माया के समान उत्पत्ति, स्थिति, लय के समय सभी लोक आश्रित हैं, परमार्थ दर्शन से उन लोकों का बाध हो जाता है। जैसे घटादि कोई भी कार्य अपने कारण मृत्तिका का अतिक्रमण नहीं कर सकते, ठीक वैसे ही ब्रह्म कार्य सम्पूर्ण जगत् उस ब्रह्म का अतिक्रमण नहीं कर सकता। निःसन्देह यही ब्रह्म है ॥१॥

यदिदं किञ्च जगत्सर्वं प्राण एजति निःसृतम् ।
महद्भयं वज्रमुद्यतं य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥२॥

यह जो कुछ जगत् है, वह सब प्राणरूप ब्रह्म से प्रकट होकर (नियम से) चेष्टा कर रहा है। वह ब्रह्म महान् भयरूप और उठे हुए वज्र के समान है। (अपने अन्तःकरण की प्रत्येक प्रवृत्ति के साक्षीभूत) इस ब्रह्म को जो जानते हैं, वे अमर हो जाते हैं ॥२॥

यद्विज्ञानादमृता भवन्तीत्युच्यते जगतो मूलं तदेव नास्ति ब्रह्मासत एवेदं निःसृतमिति; तन्न । यदिदं किञ्च यत्किंचेदं जगत्सर्वं प्राणे परस्मिन्ब्रह्मणि सत्येजति कम्पते तत एव निःसृतं निर्गतं सत्प्रचलति नियमेन चेष्टते । यदेवं जगदुत्पत्त्यादिकारणं ब्रह्म तन्महद्भयम् । महच्च तद्भयं च बिभेत्यस्मादिति महद्भयम् । वज्रमुद्यतमुद्यतमिव वज्रम् । यथा वज्रोद्यतकरं स्वामिनमभिमुखीभूतं दृष्ट्वा भृत्या नियमेन तच्छासने वर्तन्ते तथेदं चन्द्रादित्यग्रहनक्षत्रतारकादिलक्षणं जगत्सेश्वरं नियमेन क्षणमप्यविश्रान्तं वर्तत इत्युक्तं भवति । य एतद्विदुः स्वात्मप्रवृत्तिसाक्षिभूतमेकं ब्रह्मामृता अमरणधर्माणस्ते भवन्ति ॥२॥

कथं तद्भयाज्जगद्वर्तत इत्याह—

कायस्य शून्यतापर्यन्तं नष्टस्यासत्त्वपूर्वकमेव जन्म ततो नास्ति मूलमिति शङ्कते—यद्विज्ञानादिति । तन्न । शशविषाणादेरसतः समुत्पत्त्यदर्शनात्सत्पूर्वकत्वप्रसिद्धेश्चास्ति सद्रूपं वस्तु जगतो मूलं तच्च प्राणपदलक्ष्यं प्राणप्रवृत्तेरपि हेतुत्वादित्यर्थः ॥२॥

परमेश्वर का ज्ञान अमरत्व का साधन है

शङ्का :—जिसके अपरोक्ष अनुभव से अमर हो जाते हैं, ऐसा कहा जाता है, वह जगत् का मूल कारण ब्रह्म है। यह भी नहीं। यह जगत् तो असत् से ही उत्पन्न हुआ है।

समाधान :—ऐसा कहना ठीक नहीं; क्योंकि यह जो कुछ जगत् है, वह प्राणरूप परब्रह्म के होने पर उसी से प्रादुर्भूत होकर एजन, कम्पन, गमन अर्थात् नियम से चेष्टा करता है। इस प्रकार जो ब्रह्म जगत् की उत्पत्ति आदि का कारण है, वह महान् भयावह है। इसलिये इससे सब भयभीत होते हैं, वह उठाये हुए वज्र के समान प्रतीत होता है। तात्पर्य यह है जैसे अपने स्वामी को वज्र उठाये हुए सामने देख सेवक नियमानुसार उसके शासन में प्रवृत्त होते हैं। उसी प्रकार यह चन्द्र, सूर्य, नक्षत्र, ग्रह, तारा आदि सम्पूर्ण जगत् अपने अधिष्ठातृदेव के सहित क्षण भर भी विश्राम के लिये बिना ही नियमतः उसके शासन में प्रवृत्त होते रहते हैं। अपने अन्तःकरण की प्रवृत्ति के साक्षीभूत इस अद्वय ब्रह्म को जो जानते है, वे अमर हो जाते हैं ॥२॥

उसके भय से जगत् किस प्रकार होता है, इस पर कहते हैं—

भयादस्याग्निस्तपति भयात्तपति सूर्यः ।
भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः ॥३॥
इह चेदशकद्बोद्धुं प्राक्शरीरस्य विस्रसः ।
ततः सर्गेषु लोकेषु शरीरत्वाय कल्पते ॥४॥

इस (परमेश्वर) के भय से अग्नि तपता है, इसी के भय से सूर्य तप रहा है तथा इसी के भय से इन्द्र, वायु और पाँचवाँ मृत्यु (नियम से) दौड़ता है ॥३॥

यदि इस (जीवित शरीर) में नाश से पूर्व ही (इन सूर्यादि के भय हेतुभूत) ब्रह्म को न जान सका, तो उन जन्म-मरणादिशील लोकों में वह शरीर धारण कर लेता है। (अतः मरने से पूर्व आत्मा को जानकर संसार बन्धन से मुक्त हो जाना चाहिये ॥४॥

भयाद्भीत्याऽस्य परमेश्वरस्याग्निस्तपति भयात्तपति सूर्यो भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः । न हीश्वराणां लोकपालानां समर्थानां सतां नियन्ता चेद्वज्रोद्यत करवन्न स्यात्स्वामिभयभीतानामिव भृत्यानां नियता प्रवृत्तिरुपपद्यते ॥ ३ ॥

तच्चेह जीवन्नेव चेद्यद्यशकच्छक्नोति शक्तः सञ्जानात्येतद्भयकारणं ब्रह्म बोद्धुमवगन्तुं प्राक्पूर्वं शरीरस्य विस्रसोऽवस्रंसनात्पतनात्संसारबन्धनाद्विमुच्यते । न चेदशकद्बोद्धुं ततोऽनवबोधात्सर्गेषु सृज्यन्ते येषु स्रष्टव्याः प्राणिन इति सर्गाः पृथिव्यादयो लोकास्तेषु सर्गेषु लोकेषु शरीरत्वाय शरीरभावाय कल्पते समर्थो भवति शरीरं

॥३॥

सूर्यादीनां नियतप्रवृत्त्यनुपपत्त्या नियामकत्वेन सम्भावितं यत्पारमेश्वरं रूपं तदवगमायैवेह यत्नः कर्तव्य इत्याह—तच्चेति । इहैव बोद्धुं शक्तः सन्निहैव चेज्जानाति तदा मुच्यत एवेति

परमेश्वर सबका शासक है

उस परमेश्वर के भय से अग्नि तपता है, उसी के भय से सूर्य तपता है एवं उसी के भय से इन्द्र वायु और पाँचवाँ मृत्यु भी दौड़ता है। यदि समर्थ लोकपालों का लोकपाल, शासकों का नियामक हाथ में वज्र उठाते हुए के समान कोई नहीं होता तो स्वामी के भय से अपने कर्तव्य में लगे हुए सेवकों की भाँति पूर्वोक्त लोकपालों को नियमित प्रवृत्ति नहीं हो सकती थी ॥३॥

परमेश्वर को जाने बिना पुनर्जन्म होना अनिवार्य है

यदि इस देह में जीवित रहते ही अर्थात् शरीर-पतन से पूर्व साधक ने सूर्यादिकों के भय के कारण उस ब्रह्म को जान लिया तो वह संसार बन्धन से मुक्त हो जाता है और यदि उसे नहीं जान सका तो उसी अज्ञान के कारण उन पृथिव्यादि लोकों में शरीर प्राप्त करने के लिए समर्थ होता है अर्थात् शरीर ग्रहण कर लेता है, जिन सर्गों में सृष्टि के योग्य प्राणियों की रचना की जाती है। अतः

यथाऽऽदर्शे तथाऽऽत्मनि यथा स्वप्ने तथा पितृलोके ।
यथाऽप्सु परीव ददृशे तथा गन्धर्वलोके छायातप-
योरिव ब्रह्मलोके ॥५॥

जैसे दर्पण में (प्रतिबिम्बित अपने मुख को स्पष्ट देखता है) वैसे ही निर्मल बुद्धि में (आत्मा का स्पष्ट दर्शन होता है) तथा जैसे स्वप्न में (जाग्रद्वासना से उद्भूत दृश्य को अस्पष्ट देखता है) वैसे ही पितृलोक में। जैसे जल में, वैसे ही गन्धर्व लोक में भी (अस्पष्ट रूप से आत्मा का दर्शन होता है, किन्तु) ब्रह्मलोक में तो छाया और प्रकाश की भाँति अत्यन्त स्पष्ट रूप से आत्मदर्शन होता है। अत: इस मनुष्य लोक में ही आत्मदर्शन के लिये प्रयत्न करना चाहिये, क्योंकि यह प्राप्त है, ब्रह्मलोक तो दुष्प्राप्य है ॥५॥

गृह्णातीत्यर्थः । तस्माच्छरीरविस्रंसनात्प्रागात्मबोधाय यत्न आस्थेयः ॥ ४ ॥

यस्मादिहैवाऽऽत्मनो दर्शनमादर्शस्थस्येव मुखस्य स्पष्टमुपपद्यते न लोकान्तरेषु ब्रह्मलोकादन्यत्र । स च दुष्प्रापः । कथमित्युच्यते—

यथाऽऽदर्शे प्रतिबिम्बभूतमात्मानं पश्यति लोकोऽत्यन्तविविक्तं तथेहाऽऽत्मनि स्वबुद्धावादर्शवन्निर्मलीभूतायां विविक्तमात्मनो दर्शनं भवतीत्यर्थः । यथा स्वप्नेऽविविक्तं जाग्रद्वासनोद्भूतं तथा पितृलोकेऽविविक्तमेव दर्शनमात्मनः कर्मफलोपभोगासक्तत्वात् । यथा चाप्स्वविभक्तावयवमात्मरूपं परीव ददृशे परिदृश्यत इव तथा गन्धर्वलोकेऽविविक्तमेव दर्शनमात्मनः । एवं च लोकान्तरेष्वपि शास्त्रप्रामाण्यादवगम्यते । छायातपयो-

---

सम्बन्धः ॥४॥

शरीरपात से पूर्व आत्मज्ञान के लिये अवश्य प्रयत्न करना चाहिये ॥४॥

परमेश्वर दर्शन में स्थान भेद का तारतम्य

क्योंकि दर्पण में प्रतिबिम्बित मुख की भाँति इस मनुष्य शरीर में ही आत्मा का सुस्पष्ट दर्शन सम्भव है, वैसा दर्शन ब्रह्मलोक को छोड़ किसी भी लोक में सम्भव नहीं किन्तु उस ब्रह्मलोक का मिलना अत्यन्त दुष्कर है। कैसे ? इस पर कहते हैं—

जैसे दर्पण में प्रतिबिम्बित अपने आपको अत्यन्त सुस्पष्टरूप से लोक देखता है, ठीक वैसे ही दर्पण के तुल्य स्वच्छ हुई अपनीबुद्धि में अत्यन्त सुस्पष्ट दर्शन आत्मा का होता है, यही इसका तात्पर्य है। जैसे स्वप्न में जाग्रत् वासना से उद्भूत पदार्थ स्पष्ट दिखता, वैसे ही पितृलोक में आत्मा का दर्शन स्पष्ट नहीं होता क्योंकि पितृलोक में जीव कर्मफल के उपभोग करने में आसक्त रहता है और जैसे जल में अपना स्वरूप जिस प्रकार दिखता है मानो उसके अवयव विभक्त नहीं हों, वैसे ही गन्धर्वलोक में भी आत्मा का दर्शन अस्पष्टरूप से ही होता है। इनके अतिरिक्त लोकों में भी शास्त्र

इन्द्रियाणां पृथग्भावमुदयास्तमयौ च यत् ।
पृथगुत्पद्यमानानां मत्वा धीरो न शोचति ॥६॥

(अपने कारण के गुण को ग्रहण करने के लिये आकाशादि भूतों से) पृथक्-पृथक् उत्पन्न होने वाली श्रोत्रादि इन्द्रियों का आत्मवैलक्षण्यरूप पृथक् भाव को तथा उनके उत्पत्ति और प्रलय को जानकर विवेकशील पुरुष शोक नहीं करता (क्योंकि नित्य चैतन्य स्वभाव आत्मा का किसी भी अवस्था में व्यभिचार नहीं होता) ॥६॥

रिवात्यन्तविविक्तं ब्रह्मलोक एवैकस्मिन् । स च दुष्प्रापोऽत्यन्तविशिष्टकर्मज्ञानसाध्यत्वात् । तस्मादात्मदर्शनायेहैव यत्नः कर्तव्य इत्यभिप्रायः ॥ ५ ॥

कथमसौ बोद्धव्यः किं वा तदवबोधे प्रयोजनमित्युच्यते—

इन्द्रियाणां श्रोत्रादीनां स्वस्वविषयग्रहणप्रयोजनेन स्वकारणेभ्य आकाशादिभ्यः पृथगुत्पद्यमानानामत्यन्तविशुद्धात्केवलाच्चिन्मात्रात्मस्वरूपात्पृथग्भावं स्वभावविलक्षणात्मकतां तथा तेषामेवेन्द्रियाणामुदयास्तमयौ चोत्पत्तिप्रलयौ जाग्रत्स्वापावस्थापेक्षया नाऽऽत्मन इति मत्वा ज्ञात्वा विवेकतो धीरो धीमान्न शोचति । आत्मनो नित्यैकस्व

॥५॥

प्रमाण से ऐसा माना जाता है । केवल ब्रह्मलोक में ही छाया और आतप की भाँति अत्यन्त सुस्पष्टरूप से आत्मा का दर्शन होता है । पर अत्यन्त विशिष्ट कर्म और उपासना से साध्य होने के कारण वह ब्रह्मलोक सब किसी के लिये प्राप्त होना कठिन ही है किन्तु मनुष्यलोक तो अभी-अभी प्राप्त है । अतः इस मनुष्यलोक में ही आत्मदर्शन के लिये प्रयत्न करना चाहिये, यही इसका अभिप्राय है ॥५॥

फल सहित आत्मज्ञान का प्रकार

वह आत्मा किस प्रकार जानने योग्य है और उसके जानने पर क्या प्रयोजन सिद्ध होता है ? इस पर कहते हैं (पंचीकरण प्रक्रिया के अनुसार आकाशादि भूतों के पृथक्-पृथक् सात्त्विक अंश से श्रोत्रादि इन्द्रियों की उत्पत्ति हुई है । जिस भूत के सात्त्विक अंश से जो ज्ञान-इन्द्रियाँ उत्पन्न हुई, वे इन्द्रियाँ उसी भूत के तमो अंश से उत्पन्न शब्दादि गुणों को ग्रहण करने में समर्थ होती हैं) इस नियम के अनुसार श्रोत्रादि इन्द्रियाँ अपने-अपने कारण आकाशादि भूतों से पृथक्-पृथक् उत्पन्न हुईं, उस भूत के गुणों को ग्रहण करती हैं, वे इन्द्रियाँ अत्यन्त विशुद्ध स्वरूप केवल चिन्मात्र स्वरूप आत्मा से अत्यन्त विलक्षण हैं । इन्द्रियों की इस विलक्षणता और जाग्रत् एवं स्वप्न की अपेक्षा से उनकी उत्पत्ति और प्रलय को जानकर बुद्धिमान् पुरुष शोक नहीं करता अर्थात् वह समझता है कि जाग्रदादि अवस्थाएँ इन्द्रियों की हैं, आत्मा की नहीं है (जाग्रदादि अवस्थाओं में इन्द्रियादिकों का व्यभिचार हो जाता है) किन्तु सदा एक स्वभाव में रहने वाले आत्मा का किसी अवस्था में व्यभिचार नहीं होता । अतः

इन्द्रियेभ्यः परं मनो मनसः सत्त्वमुत्तमम् ।
सत्त्वादधि महानात्मा महतोऽव्यक्तमुत्तमम् ॥७॥
अव्यक्तात्तु परः पुरुषो व्यापकोऽलिङ्ग एव च ।
यं ज्ञात्वा मुच्यते जन्तुरमृतत्वं च गच्छति ॥८॥

इन्द्रियों से पर (उत्कृष्ट) मन है, मन से बुद्धि श्रेष्ठ है, बुद्धि से श्रेष्ठ महत्तत्व है और महत्तत्त्व से उत्तम अव्यक्त है ॥७॥

अव्यक्त से भी श्रेष्ठ पुरुष है (वह आकाशादि के कारण होने से) व्यापक है (तथा सर्व-संसार-धर्मरहित होने से) अलिङ्ग ही है। जिसे आचार्य एवं शास्त्र द्वारा जानकर जीवनमुक्त हो जाता है और वह अमरत्व को प्राप्त कर लेता है ॥ ८ ॥

भावस्याव्यभिचाराच्छोककारणत्वानुपपत्तेः । तथा च श्रुत्यन्तरं "तरति शोकमात्मवित्" (छां. ७-१-३) इति ॥ ६ ॥

यस्मादात्मन इन्द्रियाणां पृथग्भाव उक्तो नासौ बहिरधिगन्तव्यो यस्मात्प्रत्यगात्मा स सर्वस्य, तत्कथमित्युच्यते—

इन्द्रियेभ्यः परं मन इत्यादि । अर्थानामिहेन्द्रियसमानजातीयत्वादिन्द्रियग्रहणेनैव ग्रहणम् । पूर्ववदन्यत् । सत्त्वशब्दाद्बुद्धिरिहोच्यते ॥७॥

अव्यक्तात्तु परः पुरुषो व्यापको व्यापकस्याप्याकाशादेः सर्वस्य कारणत्वात् ।

॥६॥

इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था इति पूर्वमुक्तमिह त्वर्थानामग्रहणात्तत्सर्वप्रत्यगात्मत्वं न सम्भवतीत्याशङ्क्याऽऽह—अर्थानामिहेति ॥७॥

बुद्धिसुखदुःखादिः साश्रयो गुणत्वाद्रूपवदिति वैशेषिका अनुमिमते, तदसत् । साश्रयत्वमात्रसाधने सिद्धसाधनत्वान्मनस एव कामादिगुणवत्त्वश्रवणादात्माश्रयत्वकल्पने च निर्गुणत्वशास्त्रविरुद्धत्वादात्मना

शोक का कारण उसे दिखता ही नहीं। इसी बात को "आत्मज्ञानी शोक को पार कर जाता है" ऐसी दूसरी श्रुति भी कह रही है ॥६॥

जिस आत्मा से इन्द्रियों का पार्थक्य दिखलाया गया, वह कहीं बाहर जानने योग्य नहीं है; क्योंकि वह सबका अन्तरात्मा है। कैसे ? इसपर कहते हैं—इन्द्रियों से मन श्रेष्ठ है (मन से बुद्धि श्रेष्ठ है, बुद्धि से महत्तत्व श्रेष्ठ है और महत्तत्त्व से अव्यक्त उत्तम है, इत्यादि) इन्द्रियाँ और विषय समान जाति वाले हैं। अतः इन्द्रियों के ग्रहण से ही विषयों का भी ग्रहण हो जाता है। अन्य पदों की व्याख्या पहले हो चुकी है। यहाँ पर सत्त्व शब्द से बुद्धि कही गई है ॥७॥

अव्यक्त से भी पुरुष श्रेष्ठ है। वह व्यापक आकाशादि सभी पदार्थों का कारण होने से

न संदृशे तिष्ठति रूपमस्य न चक्षुषा पश्यति कश्चनैनम्। हृदा मनीषा मनसाऽभिक्लृप्तो य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥९॥

इस प्रत्यगात्मा का रूप दृष्टि में स्थिर नहीं होता। अतः इसे कोई नेत्र से नहीं देख सकता, यह आत्मा तो संकल्पादिरूप मन की नियामिका हृदयस्थ बुद्धि द्वारा मननरूप यथार्थ-दर्शन से प्रकाशित होता है। इस रूप में इसे जो जानते हैं; वे अमर हो जाते हैं ॥९॥

अलिङ्गो लिङ्ग्यते गम्यते येन तल्लिङ्गं बुद्ध्यादि तदविद्यमानमस्येति सोऽयमलिङ्ग एव। सर्वसंसारधर्मवर्जित इत्येतत्। यं ज्ञात्वाऽऽचार्यतः शास्त्रतश्च मुच्यते जन्तुरविद्यादिहृदयग्रन्थिभिर्जीवन्नेव पतितेऽपि शरीरेऽमृतत्वं च गच्छति। सोऽलिङ्गः परोऽव्यक्तात्पुरुष इति पूर्वेणैव सम्बन्धः ॥ ८ ॥

कथं तर्ह्यलिङ्गस्य दर्शनमुपपद्यत इत्युच्यते—

न संदृशे संदर्शनविषये न तिष्ठति प्रत्यगात्मनोऽस्य रूपम्। अतो न चक्षुषा सर्वेन्द्रियेण। चक्षुर्ग्रहणस्योपलक्षणार्थत्वात्। पश्यति नोपलभते कश्चन कश्चिदप्येनं प्रकृतमात्मानम्। कथं तर्हि तं पश्येदित्युच्यते। हृदा हृत्स्थया बुद्ध्या। मनीषा मनसः

सह बुद्ध्यादेरविनाभावाग्रहणाच्च बुद्ध्यादि नाऽऽत्मलिङ्गमित्याह—लिङ्ग्यते गम्यते येनेति ॥८॥

कथं दर्शनमुपपद्यत इति प्रष्टुः कोऽभिप्रायः? किं विषयतया दर्शनं वक्तव्यमुताविषययैव दर्शनोपायो वाच्यः। प्रथमं प्रत्याह—न संदृश इति। रूपादिमत्त्[1]द्विशेषणं च दर्शनविषययोग्यं भवति तदभावादित्यर्थः। द्वितीयं प्रत्याह—कथं तर्हीति। बाह्यकरणग्रामोपरमेऽपि यदा मनो विषयान्संकल्पयते तदा मुमुक्षोर्बुद्धिस्तस्य नियन्त्री भवति। हे मनः! किमर्थं त्वं पिशाचवत्प्रधावसि। न तावत्स्वप्रयोजनार्थम्। तव जडत्वात्प्रयोजनसंबन्धानुपपत्तेर्विषयाणां च क्षयिष्णुत्वादिदोषदुष्टानां संबन्धेन प्रयोजना-

---

व्यापक कहा गया है। वह पुरुष अलिङ्ग है। जिससे कोई वस्तु जानी जाती है, वह बुद्धि आदि लिङ्ग कहे जाते हैं। ऐसा कोई भी संसार धर्मरूप लिङ्ग उस पुरुष में है नहीं। इसीलिये वह अलिङ्ग कहा गया है अर्थात् सम्पूर्ण संसार धर्म से रहित है। जिसे शास्त्र और आचार्य के द्वारा जानकर पुरुष जीवित दशा में ही अविद्या आदि हृदय ग्रन्थियों से युक्त हो जाता है। फिर तो प्रारब्ध क्षयान्तर शरीर गिर जाने पर भी विदेह कैवल्य रूप अमरत्व को प्राप्त होता है। वह पुरुष अलिङ्ग है एवं अव्यक्त से भी पर है। इस प्रकार पिछले वाक्य में ही सम्बन्ध समझना चाहिये ॥८॥

तो ज्ञापक चिह्न से रहित अलिङ्ग आत्मा का दर्शन होना किस प्रकार सम्भव है? इस पर कहते हैं, इस अन्तरात्मा का रूप दृष्टि के विषय में ठहरता नहीं। इसीलिये कोई भी पुरुष इस प्रकृत

---

१. तद्विशेषणमिति—रूपादिमतो विशेषणं रूपाद्येवेत्यर्थः।

यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह ।
बुद्धिश्च न विचेष्टति तामाहुः परमां गतिम् ॥१०॥

जब मन के सहित पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ (आत्मा में) स्थिर हो जाती है और निश्चयात्मिका बुद्धि भी चेष्टा नहीं करती, उस अवस्था को ही परम गति कहते हैं ॥१०॥

संकल्पादिरूपस्येष्टे नियन्तृत्वेनेति मनीट् तया हृदा मनीषाऽविकल्पयित्र्या । मनसा मननरूपेण सम्यग्दर्शनेन । अभिक्लृप्तोऽभिसमर्थितोऽभिप्रकाशित इत्येतत् । आत्मा ज्ञातुं शक्यत इति वाक्यशेषः । तमात्मानं ब्रह्मैतद्ये विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥९॥

सा हृन्मनीट्कथं प्राप्यत इति तदर्थो योग उच्यते—

यदा यस्मिन्काले स्वविषयेभ्य निर्वर्तितान्यात्मन्येव पञ्च ज्ञानानि । ज्ञानार्थत्वाच्छ्रोत्रादीन्द्रियाणि ज्ञानान्युच्यन्ते । अवतिष्ठन्ते सह मनसा यदनुगतानि तेन

नुपपत्तेः । नापि चेतनार्थम् । तस्यासङ्गत्वात्परमानन्दस्वभावत्वाच्चेति नियन्तृत्वेन बुद्धिर्मनीडुच्यत इत्याह—मनस इति । अविकल्पयित्र्येति । विषयकल्पनाशून्यया ब्रह्मास्मीत्यविषयतयैव ब्रह्मभावव्यञ्जिकया महावाक्योत्थया बुद्धिवृत्त्या ज्ञातुं शक्यत इति सम्बन्धः । कथंभूत आत्मेत्यत आह—मनसेति । यद्यन्मया दृश्यते बाह्यं घटादि तत्तदहं यथा न भवामि तथाऽस्मिन्नपि संघाते यद्यद्दृश्यं तत्तदहं न भवामि किंतु योऽत्र ज्ञोऽशः सोऽस्मि सर्वशरीरेष्वेकलक्षणलक्षितत्वादेक एवेति विचारेण प्रथमं सम्भावित इत्यर्थः ॥९॥

श्रुतवेदान्तानामपि केषांचिद्ब्रह्मास्मीतिबुद्धिस्थैर्यादर्शनादस्ति किञ्चित्प्रतिबन्धकान्तरं तदपनयोपायोऽप्यन्यो वक्तव्य इत्यभिप्रेत्याऽऽह—सा हृदिति । श्रवणमननाभ्यां प्रमाणप्रमेयासम्भावनानिरासेऽपि चित्तस्यानेकाग्रतादोषः प्रतिबन्धकः सम्भवति तदपनयाय योगोऽनुष्ठातव्य उपदिश्यत इत्यर्थः । यद-

---

आत्मा को चक्षुरादि सभी इन्द्रियों से ग्रहण नहीं कर सकता अर्थात् उपलब्ध करना सम्भव नहीं है। यहाँ पर चक्षुः पद सम्पूर्ण इन्द्रियों के ग्रहण करने के लिये उपलक्षण है, तो फिर भला उसे किस प्रकार देखें ? इस पर कहते हैं, हृदय में स्थित बुद्धि से देखे जो बुद्धि संकल्पादिरूप मन की नियामिका होकर मन पर शासन करती है। इसीलिये बुद्धि को मनीट् कहते हैं। उस विकल्पना से शून्य बुद्धि द्वारा मनन रूप सम्यक् दर्शन से सभी प्रकार समर्थित अर्थात् प्रकाशित हुआ वह आत्मा जाना जा सकता है। यहाँ पर आत्मा जाना जा सकता है, इतना वाक्य शेष है। यह ब्रह्म है, इस प्रकार उस आत्मा को जो जानते हैं, वे अमर हो जाते हैं ॥९॥

परमपद प्राप्ति का प्रकार

वह हृदयस्थ बुद्धि कैसे प्राप्त होती है ? इसे बतलाने के लिये योग का उपदेश किया जाता है। जिस समय अपने-अपने विषयों से निवृत्त हुई पाँचों ज्ञान-इन्द्रियाँ मन के सहित आत्मा में स्थित

तां योगमिति मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रियधारणाम् ।
अप्रमत्तस्तदा भवति योगो हि प्रभवाप्ययौ ॥११॥

उस अचल इन्द्रिय धारण को ही योगी लोग योग कहते हैं। उस समय (चित्त समाधान के लिए) साधक प्रमादरहित हो जाता है, क्योंकि योग ही प्रभव और अप्यय रूप है अर्थात् प्रमाद छोड़ने से कैवल्य का प्रादुर्भाव और प्रमाद करने से परमार्थ का नाश हो जाता है ॥११॥

सङ्कल्पादिव्यावृत्तेनान्तःकरणेन । बुद्धिश्चाध्यवसायलक्षणा न विचेष्टति स्वव्यापारेषु न विचेष्टते न व्याप्रियते तामाहुः परमां गतिम् ॥१०॥

तामीदृशीमवस्थां योगमिति मन्यन्ते वियोगमेव सन्तम् । सर्वानर्थसंयोगवियोगलक्षणा हीयमवस्था योगिनः । एतस्यां ह्यवस्थायामविद्याध्यारोपणवर्जितः स्वरूपप्रतिष्ठ आत्मा । स्थिरामिन्द्रियधारणां स्थिरामचलामिन्द्रियधारणां बाह्यान्तःकरणानां धारणमित्यर्थः । अप्रमत्तः प्रमादवर्जितः समाधानं प्रति नित्यं यत्नवांस्तदा तस्मिन्काले

नुगतानीति । [1]येन येन मनसाऽधिष्ठितानि तेन तेन सहावतिष्ठन्ते [2]निवृत्तव्यापाराणि भवन्तीत्यर्थः ॥१०॥

वियोगमेव सन्तं योगमिति विरुद्धलक्षणया मन्यन्त इत्युक्तं तत्स्फुटयति—सर्वानर्थेति । उपसंहृतं मनो यदि सुषुप्तिं गच्छेत्तदा साऽनर्थबीजावस्था भवति । तद्व्यावृत्तये पूर्णं ब्रह्मास्मीत्यावृत्तौ योजयेदावृत्तौ नियुक्तं विषयेषु विक्षिप्तं चेत्स्यात्तद्दोषदर्शनेन ततोऽपि व्यावर्तयेत् । व्यावृत्तमपि ततस्तटस्थं चेत्स्यात्साऽपि [3]यावत्कषायावस्था ततो निरुद्धं मनो यदा न जागर्ति न स्वपिति न चान्तरालावस्थं भवति पूर्णब्रह्मावभासकतयैव क्षीणं भवति तदा सर्वानर्थवियोगलक्षणा साऽवस्था भवतीत्यर्थः ।

हो जाती हैं, यहाँ पर ज्ञान के साधन होने से श्रोत्रादि इन्द्रियाँ ज्ञान शब्द से कही गयी हैं, वे सदा मन के पीछे-पीछे चलती हैं। अतः संकल्पादि के व्यापार से उपरत वे अन्तःकरण के सहित इन्द्रियाँ आत्मा में स्थित हो जाती हैं और निश्चयात्मिका बुद्धि अपने व्यापारों में चेष्टा नहीं करती अर्थात् व्यापार नहीं करती। उस अवस्था को ही परमगति कहते हैं ॥१०॥

जो वास्तव में वियोग है, उस ऐसी अवस्था को ही जो योग मानते हैं; क्योंकि यह अवस्था योगी की सभी प्रकार के अनर्थ संयोग की वियोगरूपा है। इसी अवस्था में आत्मा अविद्यादि आरोप से रहित अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित होता है। इसी अवस्था को बाह्य और आन्तरिक करणरूप इन्द्रियों की अचल धारणा कहा गया है। उस समय साधक पुरुष प्रमाद रहित हो जाता है अर्थात् चित्त समाधान के लिये सदा प्रयत्नशील रहता है। जब वह योग साधना में प्रवृत्त होता है (उसी समय की

---

१. मनस ऐक्येऽपि राजसादिभेदेन नानात्वमादायाह—येन येनेति । यादृशेनेति यावत् । २. निवृत्तेति—मनसस्तु तादृक्त्वं निवर्ततामित्यवधेयम् । ३. यावत्कषायेति—यावतां सर्वेषां रागादिकषायाणामवस्थेत्यर्थः ।

यदैव प्रवृत्तयोगो भवतीति सामर्थ्यादवगम्यते। न हि बुद्ध्यादिचेष्टाभावे प्रमादसंभवोऽस्ति। तस्मात्प्रागेव बुद्ध्यादिचेष्टोपरमादप्रमादो विधीयते। अथवा यदैवेन्द्रियाणां स्थिरा धारणा तदानीमेव निरङ्कुशमप्रमत्तत्वमित्यतोऽभिधीयतेऽप्रमत्तस्तदा भवतीति। कुतः? योगो हि यस्मात्प्रभवाप्ययावुपजनापायधर्मक इत्यर्थोऽतोऽपायपरिहारायाप्रमादः कर्तव्य इत्यभिप्रायः ॥११॥

बुद्ध्यादिचेष्टाविषयं चेद्ब्रह्मेदं तदिति विशेषतो गृह्येत बुद्ध्याद्युपरमे च ग्रहणकारणाभावादनुपलभ्यमानं नास्त्येव ब्रह्म। यद्धि करणगोचरं तदस्तीति प्रसिद्धं लोके विपरीतं चासदित्यतश्चानर्थको योगोऽनुपलभ्यमानत्वाद्वा नास्तीत्युपलब्धव्यं ब्रह्मेत्येवं प्राप्त इदमुच्यते।

सत्यम्—

योगारम्भकाले प्रमादवर्जनं विधेयतया व्याख्यायानुवादपरतया व्याचष्टे—अथवेति। **विधिपक्षे हेतुं पृच्छति**—कुत इति ॥११॥

उत्तरमन्त्रमवतारयितुं शङ्कामुद्भावयति—बुद्ध्यादिचेष्टाविषयं चेदिति। **घटोऽस्तीति प्रतिपन्नस्य घटस्य मुद्गराभिघाताद्विलापने घटाकार एव विलीयते नास्तित्वांशस्तस्य कपालादावप्यनुवृत्तिदर्शनात्। अतः कार्यप्रविलापनस्यास्तित्वनिष्ठत्वान्न शून्यतापर्यवसायी लय इत्युक्तमेतत्स्फुटयति**—

बात यहाँ पर कही गयी है) ऐसा इस वाक्य के सामर्थ्य से जान पड़ता है; क्योंकि बुद्धि आदि की चेष्टा का अभाव हो जाने पर प्रमाद होना सम्भव नहीं है। अतः बुद्धि आदि की चेष्टा का अभाव होने से पूर्व ही (समाधि के लिये यत्न करने वाले साधक को) अप्रमाद का विधान किया जाता है। अथवा जिस समय इन्द्रियों की धारणा स्थिर होती है, उसी समय निरंकुश प्रमाद का अभाव होता है। इसलिये "उस समय साधक अप्रमत्त हो जाता है" ऐसा कहा गया है। क्यों ऐसा कहा गया? क्योंकि योग ही उत्पत्ति और लयरूप धर्म वाला है (अर्थात् अनात्माकार का प्रभव और निद्रारूप लय इन दोनों के अभाव को योग कहते हैं) अतः तात्पर्य यह है कि लयरूप उपाय की निवृत्ति के लिये प्रमाद का अभाव करना ही चाहिये ॥११॥

आस्तिक बुद्धि आत्मोपलब्धि का साधन है

यदि बुद्धि आदि की चेष्टा का विषय ब्रह्म होता, तो यही 'वह ब्रह्म है' इस प्रकार विशेषरूप से गृहीत होता। (अन्ततः किसी भी वस्तु के ग्रहण का साधन बुद्धि ही तो है) बुद्धि आदि के निवृत्त हो जाने पर उसके ग्रहण का कारण न रहने से वह ब्रह्म उपलब्ध नहीं होता। अतः यह कहना ही उचित है कि वस्तुतः ब्रह्म है ही नहीं; क्योंकि लोक में जो वस्तु इन्द्रियों से जानी जाती है, वही है; इस प्रकार प्रसिद्ध मानी गयी है। इसके विपरीत वस्तु असत् कही जाती है। अतः पूर्वोक्त उपदेश किया गया योग व्यर्थ है अथवा उपलब्धि के योग्य न होने से ब्रह्म "नहीं है" ऐसा जानना चाहिये। ऐसी आशङ्का होने पर यह कहा जा सकता है। ठीक है। यद्यपि वह ब्रह्म न वाणी से, न मन से, न नेत्र

नैव वाचा न मनसा प्राप्तुं शक्यो न चक्षुषा ।
अस्तीति ब्रुवतोऽन्यत्र कथं तदुपलभ्यते ॥१२॥

वह आत्मा न तो वाणी से, न तो मन से, न नेत्र से (और न अन्य इन्द्रियों से ही प्राप्त किया जा सकता है); वह आत्मा है, इस प्रकार कहने वाले (शास्त्रानुसारी श्रद्धालु आस्तिक) पुरुषों से भिन्न नास्तिकों को कैसे वह उपलब्ध हो सकता है ! अर्थात् किसी प्रकार उपलब्ध नहीं हो सकता ॥१२॥

नैव वाचा न मनसा न चक्षुषा नान्यैरपीन्द्रियैः प्राप्तुं शक्यत इत्यर्थः । तथाऽपि सर्वविशेषरहितोऽपि जगतो मूलमित्यवगतत्वादस्त्येव कार्यप्रविलापनस्यास्तित्वनिष्ठत्वात् । तथा हीदं कार्यं सूक्ष्मतारतम्यपारम्पर्येणानुगम्यमानं सद्बुद्धिनिष्ठामेवावगमयति । यदाऽपि विषयप्रविलापनेन प्रविलाप्यमाना बुद्धिस्तदाऽपि सा सत्प्रत्ययगर्भैव विलीयते । बुद्धिर्हि नः प्रमाणं सदसतोर्याथात्म्यावगमे । मूलं चेज्जगतो न स्यादसदन्वितमेवेदं कार्यमसदित्येव गृह्येत न त्वेतदस्ति सत्सदित्येव तु गृह्यते । यथा मृदादि-

---

तथा होति । स्थूलस्य कार्यस्य विलये सूक्ष्मं तत्कारणमवशिष्यते तस्यापि विलये ततः सूक्ष्ममिति यावद्दर्शनं व्याप्तिमुपलभ्य यत्र न दृश्यते तत्रापि [1]मूर्तविलयस्यावश्यंभावित्वात्सन्मात्रमेवामूर्तमवतिष्ठत इति कार्यमेव सौ(सू)क्ष्मतारतम्यपारम्पर्येणानुत्रियमाणं सद्बुद्धिनिष्ठां पुरुषस्य ग(षस्यावग)मयतीत्यर्थः । ननु यद्दृश्यं तदसद्यथा स्वप्नदर्शनमिति व्याप्तिदर्शनादस्तित्वेन दृश्यस्यासत्त्वात्सद्बुद्धिरपि नास्त्येवेत्याशङ्कयाऽऽह—यदाऽपीति । सद्बुद्धिरपि नास्तीत्येवंभूतः प्रत्ययोऽवश्यमस्तीत्यभ्युपगन्तव्यम् । अन्यथा निषेधव्यवहारायोगात् । अतोऽन्ततो गत्वा सद्बुद्धिः स्वीकृता स्यादित्यर्थः । ततः किमित्यत आह—बुद्धिर्हीति । व्यभिचारिष्वपि विषयेषु सन्मात्रबुद्धेरव्यभिचारदर्शनाद्बुद्धेश्च [2]स्वतः प्रामाण्यात्सन्मात्रं वस्त्वभ्युपगन्तव्यमित्यर्थः । इतश्च सदेव मूलं जगतो वाच्यमित्याह—मूलं चेदिति । नास्ति

से और न किन्हीं अन्य इन्द्रियों से ही प्राप्त किया जा सकता है तथापि सम्पूर्ण विशेषों से रहित होने पर भी वह जगत् का मूल है। इस प्रकार अवगत होने के कारण उसका अस्तित्व प्रसिद्ध है; क्योंकि कार्य का विलय किसी अस्तित्व के आधार पर ही हो सकता है।

ऐसे ही सूक्ष्मता की तारतम्य परम्परा से होने वाला यह सम्पूर्ण कार्यवर्ग भी सद्बुद्धि निष्ठा का बोध कराता है। जिस समय विषय के विलय द्वारा बुद्धि का विलय किया जाता है, उस समय भी बुद्धि सद्वस्तु को अपने गर्त में लेकर ही लीन होती है; क्योंकि सत् और असत् का यथार्थरूप जानने में हमारे पास बुद्धि ही तो प्रमाणरूप है।

जैसे मृत्तिका आदि के कार्य घटादि "मृद्घटः" इस प्रकार अपने कारण मृत्तिकादि से अन्वित

---

१. मूर्तविलयस्येति—अत्रामूर्तविषयस्येति पाठ युक्तं पश्यामः । २. स्वतस्त्वं तु प्रामाण्यस्य ज्ञानग्राहकसामग्रीग्राह्यत्वमित्यवधेयम् ।

अस्तीत्येवोपलब्धव्यस्तत्त्वभावेन चोभयोः ।
अस्तीत्येवोपलब्धस्य तत्त्वभाव प्रसीदति ॥१३॥

वह आत्मा है, इस प्रकार ही उपलब्ध करना चाहिये और सत्त्वरूप से उसे जानना चाहिये (सोपाधिक अस्तित्व और निरुपाधिक तत्त्वरूप) इन दोनों में से जिसे पहले उसकी अस्ति-भाव से उपलब्धि हुई है, उसी को तत्त्व रूप से भी साक्षात्कार होता है ॥१३॥

कार्यं घटादि मृदाद्यन्वितम् । तस्माज्जगतो मूलमात्मास्तीत्येवोपलब्धव्यः । कस्मात् ? अस्तीति ब्रुवतोऽस्तित्ववादिन आगमार्थानुसारिणः श्रद्दधानादन्यत्र नास्तित्ववादिनि नास्ति जगतो मूलमात्मा निरन्वयमेवेदं कार्यमभावान्तं प्रविलीयत इति मन्यमाने विपरीतदर्शिनि कथं तद्ब्रह्म तत्त्वत उपलभ्यते न कथंचनोपलभ्यत इत्यर्थः ॥१२॥

तस्मादपोह्यासद्वादिपक्षमासुरमस्तीत्येवाऽऽत्मोपलब्धव्यः सत्कार्यो बुद्ध्याद्युपाधिः । यदा तु तद्रहितोऽविक्रिय आत्मा कार्यं च कारणव्यतिरेकेण नास्ति "वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यमि"ति श्रुतेस्तदा तस्य निरुपाधिकस्यालिङ्गस्य

जगतो मूलं ब्रह्मेत्यवगमेऽपि प्रतियोगितया ब्रह्मज्ञानसंभवात्किमिति मुमुक्षुणा ब्रह्मज्ञानकामेनास्तीत्ये-वोपलब्धव्यमित्याह—कस्मादिति । प्रतियोगितया ज्ञातस्य निषेध्यत्वादात्मतत्त्वज्ञानं न स्यात्तो ब्रह्मज्ञानकामेनास्ति जगन्मूलमित्यवगन्तव्यमेवेत्याह—अस्तीति ब्रुवत इत्यादिना ॥१२॥

सोपाधिकस्याऽऽत्मनो ज्ञानान्मुक्त्यसम्भवान्निरुपाधिकज्ञानायापि प्रयतितव्यमित्याह—यदा त्विति । सोपाधिके प्रथमं स्थिरीभूतस्य तद्द्वारेण लक्ष्यपदार्थावगमे सति क्रमेण वाक्यार्थावगतिः

ही देखा गया है, वैसे ही यदि जगत् का कोई मूल न होता अर्थात् जगत् का कारण असत् होता, तो यह सम्पूर्ण कार्यवर्ग असाम्य होने के कारण असत् है, ऐसा ग्रहण होना चाहिये था किन्तु बात ऐसी नहीं है । यह जगत् तो "यह-यह" इस प्रकार ही प्रतीत होता है । अतः जगत् का मूल आत्मा "है" इस प्रकार ही उपलब्ध करना चाहिये क्योंकि आत्मा 'है" इस प्रकार बोलने वाले शास्त्रानुसारी श्रद्धालु पुरुष से भिन्न नास्तिकवादियों को आत्मा की उपलब्धि किसी प्रकार भी नहीं हो सकती; क्योंकि उनके सिद्धान्तानुसार जगत् का मूल आत्मा नहीं है ऐसा मानने वालों के सिद्धान्तानुसार इस दृश्यमान कार्यवर्ग का विलय अभाव में ही होगा । असत् से उत्पन्न और असत् में लीन होने वाले कार्यवर्ग वर्तमानकाल में ही असत् से ही अन्वित होंगे । ऐसे उन नास्तिक विपरीतदर्शियों को ब्रह्म किसी प्रकार भी उपलब्ध नहीं हो सकता ॥१२॥

अतः असद्वादियों के आसुरीपक्ष का तिरस्कार कर (सद्वादपक्ष का ही अनुसरण करना चाहिये) जिसकी उपाधि बुद्धि आदि हैं और जिसका अस्तित्व उसके कार्य में अनुगत है, उस आत्मा को "है" इस प्रकार ही जानना चाहिये । जिस समय उन बुद्धि आदि उपाधियों से रहित निर्विकार जाना जाता है तथा कार्यवर्ग "विकार वाणी का विलास और नाममात्र ही है, सत्य तो केवल मिट्टी ही है" इस श्रुति के अनुसार अपने कारण से अभिन्न निश्चित हो जाता है, उस समय जिस निरुपाधिक

यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः ।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते ॥१४॥

साधक के हृदय में स्थित जो कामनाएँ हैं, वे सब की सब (प्रारब्ध से भिन्न) जब छूट जातो हैं; उस समय (आत्मसाक्षात्कार से पूर्व अपने को) मरणशील मानने वाला पुरुष अमर हो जाता है और इसी वर्तमान शरीर से ब्रह्मभाव को प्राप्त हो जाता है ॥१४॥

सदसदादिप्रत्ययविषयत्ववर्जितस्याऽऽत्मनस्तत्त्वभावो भवति । तेन च रूपेणाऽऽत्मोपलब्धव्य इत्यनुवर्तते । तत्राप्युभयोः सोपाधिकनिरुपाधिकयोरस्तित्वतत्त्वभावयोः । निर्धारणार्था षष्ठो । पूर्वमस्तीत्येवोपलब्धस्याऽऽत्मनः सत्कार्योपाधिकृतास्तित्वप्रत्ययेनोपलब्धस्येत्यर्थः । पश्चात्प्रत्यस्तमितसर्वोपाधिरूप आत्मनस्तत्त्वभावो विदिताविदिताभ्यामन्योऽद्वयस्वभावो "नेति नेति" (बृ. २.३.६.)इति "अस्थूलमनण्वह्रस्वम्" (बृ.३.८.८.) "अदृश्येऽनात्म्येऽनिरुक्तेऽनिलयने" (तै. २.५.) इत्यादिश्रुतिनिर्दिष्टः प्रसीदत्यभिमुखीभवति । आत्मप्रकाशनाय पूर्वमस्तीत्युपलब्धवत इत्येतत् ॥१३॥

एवं परमार्थदर्शिनो यदा यस्मिन्काले सर्वे कामाः कामयितव्यस्यान्यस्याभावा-

---

सम्भाव्यत इत्याह—तत्राप्युभयोरित्यादिना । सदुपलभ्यमानं कार्यमुपाधिर्यस्य कारणत्वस्य तत्कृतो योऽस्तित्वप्रत्ययः कारणत्वादस्ति पर आत्मेति तेनोपलब्धस्येति योजना ॥१३॥

सर्वे कामा इति । प्रवृत्तफलकर्मोपस्थापिते शरीरस्थितिनिमित्तान्नपानादौ प्रवृत्तिकारणेच्छाव्यतिरिक्ताः सर्वे कामाः काम्येन ज्योतिष्टोमादिना स्वर्गं प्राप्स्यामि त्रैपुर्या(रा?)राधनेन जनं

अलिङ्ग और सत्-असदादि प्रतीति के अविषय आत्मा का तत्त्वभाव होता है, उस तत्त्व स्वरूप से ही आत्मा को उपलब्ध करना चाहिये यहाँ पर 'उपलब्धव्यः' इस पद की अनुवृत्ति की जाती है ।

सोपाधिक का 'अस्तित्व' और निरुपाधिक का 'तत्त्वभाव' इन दोनों में से यहाँ पर 'उभयोः' इस पद में षष्ठी विभक्ति निर्धारण के लिये है अर्थात् पहले है, इस प्रकार उपलब्ध करना चाहिये । सत् कार्यरूप उपाधि के द्वारा अस्तित्व की प्रतीति से उपलब्ध आत्मा का पुनः (वह तत्त्वभाव प्रकाशित हो जाता है) जिसकी सम्पूर्ण उपाधि निवृत्त हो गयी है और जो ज्ञात एवं अज्ञात से भिन्न अद्वय स्वभाव है, उस "नेति-नेति" यह नहीं "स्थूल नहीं, सूक्ष्म नहीं, ह्रस्व नहीं" "इन्द्रियों के अविषय अहंता ममता से रहित वाणी के अविषय और आधार रहित में" इत्यादि श्रुतियों से निर्दिष्ट आत्मा का सात्त्विक स्वरूप प्रकाशित हो जाता है अर्थात् जिसे पहले है, इस प्रकार से उपलब्ध किया है, उसे अपना स्वरूप प्रकट करने के लिये अभिमुख होना पड़ता है ॥१३॥

साधक अमरत्व का अनुभव कब करता है

इस प्रकार परमार्थदर्शी भी सम्पूर्ण कामनाएँ, कामना योग्य अन्य पदार्थ का अभाव हो जाने

यदा सर्वे प्रभिद्यन्ते हृदयस्येह ग्रन्थयः ।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्येतावद्ध्यनुशासनम् ॥१५॥

जिस समय इस वर्तमान जीवन में ही हृदय को अविद्याजन्य सम्पूर्ण ग्रन्थियाँ छिन्न-भिन्न हो जाती हैं, उस समय मरणधर्मा अमर हो जाता है। बस, इतना ही सम्पूर्ण वेदान्तों का अनुशासन है (इससे अधिक आदेश नहीं है) ॥१५॥

त्प्रमुच्यन्ते विशीर्यन्ते येऽस्य प्राक्प्रतिबोधाद्विदुषो हृदि बुद्धौ श्रिता आश्रिताः । बुद्धिर्हि कामानामाश्रयो नाऽऽत्मा । "कामः सङ्कल्पः" (बृ.१.५.३) इत्यादिश्रुत्यन्तराच्च । अथ तदा मर्त्यः प्राक्प्रबोधादासीत्स प्रबोधोत्तरकालमविद्याकामकर्मलक्षणस्य मृत्योर्विनाशादमृतो भवति, गमनप्रयोजकस्य मृत्योर्विनाशाद्गमनानुपपत्तेरत्रेहैव प्रदीपनिर्वाणवत्सर्वबन्धनोपशमाद्ब्रह्म समश्नुते ब्रह्मैव भवतीत्यर्थः ॥१४॥

कदा पुनः कामानां मूलतो विनाश इत्युच्यते—

यदा सर्वे प्रभिद्यन्ते भेदमुपयान्ति विनश्यन्ति हृदयस्य बुद्धेरिह जीवत एव ग्रन्थयो ग्रन्थिवद्दृढबन्धनरूपा अविद्याप्रत्यया इत्यर्थः । अहमिदं शरीरं ममेदं धनं सुखी दुःखी चाहमित्येवमादिलक्षणास्तद्विपरीतब्रह्मात्मप्रत्ययोपजननाद्ब्रह्मैवाहमस्म्यसंसारीति विन-

---

वशी करिष्यामीत्येवमादयः स्वर्गादिदेहेष्वप्यहमेव तिष्ठामि तद्भोगाश्च प्राप्ता एव प्राप्तविषयश्च कामो व्यर्थो मिथ्या चासाविति विचारेण विशीर्यन्त इत्यर्थः । कामाश्रय आत्मेति वैशेषिकमतं श्रुतिबाह्यत्वान्नाऽऽदरणीयमेवेत्याह—बुद्धिर्हीति ॥१४॥

कामप्रविलयस्य सुषुप्तेऽपि भावादमृतत्वविह्वलत्वं न भवतीति मत्वाऽऽह—कदा पुनरिति ॥१५॥

के कारण जब छिन्न-भिन्न हो जाती हैं, जो तत्त्वज्ञान से पहले इस विद्वान् की बुद्धि में छाई हुई थीं; क्योंकि बुद्धि ही कामनाओं का आश्रय है; आत्मा नहीं। जैसा कि कामना और सङ्कल्प ये सब मन ही हैं, इत्यादि एक दूसरी श्रुति से भी सिद्ध होता है। अतः उस समय जो आत्मसाक्षात्कार से पूर्व मरणधर्मा था, वही जीव आत्मज्ञान के बाद अविद्या, काम और कर्मरूप मृत्यु का नाश हो जाने से अमर हो जाता है। परलोक में गमन के हेतु या परलोक में ले जाने वाले पूर्वोक्त अविद्यादिरूप मृत्यु का विनाश हो जाने के कारण वहाँ जाना सम्भव नहीं है। अतः वह तत्त्ववेत्ता इस लोक में ही दीपक बुझ जाने के समान सम्पूर्ण बन्धनों के नाश हो जाने से ब्रह्मभाव को प्राप्त हो जाता है अर्थात् ब्रह्म ही हो जाता है ॥१४॥

कामनाओं का समूल विनाश कब होता है? इस पर कहते हैं कि जिस समय जीवित दशा में ही बुद्धिस्थ ग्रन्थि के समान मिथ्या प्रतीतिरूप इसके सभी दृढ़ बन्धन छिन्न-भिन्न हो जाते हैं, मैं शरीर हूँ, मेरा धन है, मैं सुखी हूँ, मैं दुःखी हूँ इत्यादि अनुभव अविद्याजन्य अध्यास के कारण हो रहे हैं, उसके विपरीत ब्रह्मात्मभाव के अनुभव की उत्पत्ति से मैं असंसारी ब्रह्मस्वरूप ही हूँ, ऐसे

शतं चैका च हृदयस्य नाड्यस्तासां मूर्धानमभिनिःसृतैका । तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति विष्वङ्ङन्या उत्क्रमणे भवन्ति ॥१६॥

पुरुष के हृदय की एक सौ एक नाड़ियाँ हैं, उसमें से मूर्धा को भेदकर बाहर की ओर निकलने वाली सुषुम्ना नड़ी है, उसके द्वारा ऊपर की ओर जाने वाला जीव सूर्य मार्ग से आपेक्षिक अमरत्व को प्राप्त करता है। इससे भिन्न विविध गति वाली नाड़ियाँ संसार प्राप्ति के लिये होती हैं ॥१६॥

च्छेष्वविद्याग्रन्थिषु तन्निमित्ताः कामा मूलतो विनश्यन्ति । अथ मर्त्योऽमृतो भवत्येतावद्ध्येतावदेवैतन्मात्रं नाधिकमस्तीत्याशङ्का कर्तव्या । अनुशासनमनुशिष्टिरुपदेशः सर्ववेदान्तानामिति वाक्यशेषः ॥१५॥

निरस्ताशेषविशेषव्यापिब्रह्मात्मप्रतिपत्त्या प्रभिन्नसमस्ताविद्यादिग्रन्थेर्जीवत एव ब्रह्मभूतस्य विदुषो न गतिर्विद्यत इत्युक्तम् "अत्र ब्रह्म समश्नुते" इत्युक्तत्वात् "न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति ब्रह्मैव सन्ब्रह्माप्येति" (बृ.४.४.६.) इति श्रुत्यन्तराच्च । ये पुनर्मन्दब्रह्मविदो विद्यान्तरशीलिनश्च ब्रह्मलोकभाजो ये च तद्विपरीताः संसारभाजस्तेषामेष गतिविशेष उच्यते प्रकृतोत्कृष्टब्रह्मविद्याफलस्तुतये । किञ्चान्यदग्निविद्या पृष्टा प्रत्युक्ता च । तस्याश्च फलप्राप्तिप्रकारो वक्तव्य इति मन्त्रारम्भः । तत्र—

शतं च शतसंख्याका एका च सुषुम्ना नाम पुरुषस्य हृदयाद्विनिःसृता नाड्यः

प्रकरणविच्छेदेनोत्तरस्य सम्बन्धं दर्शयति—निरस्ताशेषेत्यादिना । यदभाणि भास्करेण

तत्त्वज्ञान द्वारा अविद्या रूप ग्रन्थियों के नष्ट हो जाने पर उस अविद्या निमित्तक सम्पूर्ण कामनाएँ समूल नष्ट हो जाती हैं, तब वह मरणधर्मा जीव अमर हो जाता है। बस सम्पूर्ण वेदान्तों का अनुशासन इतना ही तो है, इससे कुछ अधिक की आशङ्का नहीं करनी चाहिए। अनुशासन का मतलब उपदेश है। यहाँ पर 'सर्ववेदान्तानाम्' यह वाक्य शेष है ॥१५॥

जिसमें सम्पूर्ण विशेषणों का अभाव है, उस निर्विशेष सर्वव्यापक ब्रह्म को आत्मरूप से प्रत्यक्ष अनुभव कर लेने के कारण जिसकी अविद्या आदि सम्पूर्ण ग्रन्थियाँ छिन्न-भिन्न हो गयी हैं और जो जीवनकाल में ही ब्रह्मभाव को प्राप्त हो गया है, उस ब्रह्मज्ञानी का कहीं गमन नहीं होता। ऐसा "इस शरीर में ही ब्रह्मभाव को प्राप्त हो जाता है" इस मन्त्र से पहले कह आये हैं। "उस तत्त्वज्ञानी के प्राण उत्क्रमण नहीं करते, वह ब्रह्मरूप हुआ ही ब्रह्म में लीन हो जाता है" इस दूसरी श्रुति से भी यही अर्थ निश्चित होता है किन्तु जिनका ब्रह्मज्ञान मन्द (अदृढ़) है और जो अन्य उपासना का परिशीलन करने वाले हैं, ऐसे साधक ब्रह्मलोक प्राप्ति के अधिकारी माने जाते हैं तथा जो इसके विपरीत जन्म-मरणरूप संसार के भागी हैं, उन्हीं की किसी गति विशेष का वर्णन इस प्रकृत ब्रह्मविद्या उत्कृष्ट फल की स्तुति के लिये किया जाता है।

अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा सदा जनानां
हृदये संनिविष्टः । तं स्वाच्छरीरात्प्रवृहेन्मु-

अंगुष्ठ मात्र, अन्तरात्मा पुरुष सदा जीवों के हृदय में स्थित है उसे धैर्यपूर्वक मूँज से सींक

शिरास्तासां मध्ये मूर्धानं भित्त्वाऽभिनिःसृता निर्गता सुषुम्ना नाम । तयाऽन्तकाले हृदय आत्मानं वशीकृत्य योजयेत् । तया नाड्योर्ध्वमुपर्यायन्गच्छन्नादित्यद्वारेणामृतत्वममरण-धर्मत्वमापेक्षिकम् । "आभूतसंप्लवं स्थानममृतत्वं हि भाष्यते" (वि. पु. २. ८. ९७) इति स्मृतेः । ब्रह्मणा वा सह कालान्तरेण मुख्यममृतत्वमेति भुक्त्वा भोगाननुपमान्ब्रह्म-लोकगतान् । विष्वङ्नानाविधगतयोऽन्या नाड्य उत्क्रमणे निमित्तं भवन्ति संसारप्रति-पत्त्यर्था एव भवन्तीत्यर्थः ॥१६॥

इदानीं सर्ववल्ल्यर्थोपसंहारार्थमाह—

अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा सदा जनानां सम्बन्धिनि हृदये संनिविष्टो यथाव्या-

---

[1]प्रकरणाद्ब्रह्मविद्विषयैवेयं गतिरिति तदसद्गतिश्रवणेन [2]लिङ्गेन परिच्छिन्ने गमनयोग्येऽस्या गतेः सम्बन्धावगमे सति [3]दुर्बलेन प्रकरणेन प्रकृतब्रह्मवित्सम्बन्धानुपपत्तेः । [4]नाड्यन्तराणामपि तत्सम्बन्ध-प्रसङ्गा[5]च्छ्रुतिविरुद्धत्वप्रसङ्गाच्च । विस्तरश्च प्रकटार्थे द्रष्टव्यः ॥१६॥

इसके सिवाय नचिकेता के पूछने पर यमाचार्य ने पहले अग्नि विद्या का भी वर्णन किया था, उस विद्या के फल की प्राप्ति का प्रकार बतलाना चाहिये । इसीलिये यह मन्त्र प्रारम्भ किया जाता है । वहाँ पर (यह कहना अभीष्ट है कि) पुरुष के हृदय से सौ संख्या वाली दूसरी और एक सुषुम्ना नाम की नाड़ी द्वारा मन को वश में करके हृदय में समाहित हो करे । पुनः उस नाड़ी द्वारा ऊपर की ओर जाने वाला जीवत्मा सूर्य मार्ग से आपेक्षिक अमरण धर्मकरूप अमृतत्व को प्राप्त होता है । "सम्पूर्ण भूतों के प्रलय तक रहने वाला स्थान अमृतत्व कहा जाता है" इस स्मृति से भी ब्रह्मलोक में अमरत्व सिद्ध होता है अथवा (जिसका ऐसा अभिप्राय समझे कि) कालान्तर में ब्रह्मा के चार ब्रह्मलोक में अनुपम भोगों को भोगकर मुख्य अमृतत्व को भी प्राप्त कर लेता है । इसके अतिरिक्त जिनकी गति नाना प्रकार की है, ऐसी अन्य सब नाड़ियाँ (शरीरान्त ग्रहण के लिए) उत्क्रमण में हेतु हैं । तात्पर्य यह कि सुषुम्ना नाड़ी से भिन्न सभी नाड़ियाँ संसार प्राप्ति के लिये ही हैं, ये ही होती हैं ॥१६॥

उपसंहार

अब सभी वल्लियों के तात्पर्य अर्थ का उपसंहार करने के लिए कहते हैं, जिसकी व्याख्या पहले की जा चुकी है, ऐसा अंगुष्ठ परिमाण वाला पुरुष जीवों के हृदय में सदा स्थित और उनका अन्तरात्मा

---

१. प्रकरणादिति—परस्पराकांक्षा प्रकरण तद्बलादित्यर्थः । २. अर्थप्रकाशनसामर्थ्यं लिङ्गं तेनेत्यर्थः । ३. दुर्बलेनेति—"श्रुतिलिङ्गवाक्यप्रकरणस्थानसमाख्यानां समवाये पारदौर्बल्यमर्थविप्रकर्षादिति" न्यायादिति भावः । ४. नाड्यन्तराणामपीति—विष्वङ्ङन्या उत्क्रमणे भवन्तीति वाक्यस्यापि तन्मते प्रकरणाद्ब्रह्म-विद्विषयत्वाविशेषादिति भावः । ५. श्रुतीति—"न तस्य प्राणाः" "ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेति"त्यादिश्रुतीत्यर्थः ।

ञ्जादिवेषीकां धैर्येण । तं विद्याच्छुक्रममृतं तं विद्याच्छुक्रममृतमिति ।।१७।।

मृत्युप्रोक्तां नाचिकेतोऽथ लब्ध्वा विद्यामेतां योगविधिं च कृत्स्नम् । ब्रह्मप्राप्तो विरजोऽभू-द्विमृत्युरन्योऽप्येवं यो विदध्यात्ममेव ।।१८।।

की भाँति अपने शरीर से पृथक् करे। (शरीर से पृथक् किये हुए) उस आत्मा को विशुद्ध और अमृतमय समझे, उसे शुद्ध और अमर समझे ।।१७।।

मृत्यु की कही हुई पूर्वोक्त ब्रह्मविद्या और सम्पूर्ण योग विधि को प्राप्त कर नचिकेता मुक्त हो गया। वह धर्माधर्म रूपी रज से रहित तथा अविद्या एवं काम से छूट गया। जो कोई दूसरा व्यक्ति भी अध्यात्मतत्व को इस प्रकार जानेगा; वह भी नचिकेता की भाँति ब्रह्मप्राप्ति द्वारा मृत्यु से छूट जायेगा ।।१८।।

ख्यातस्तं स्वादात्मीयाच्छरीरात्प्रवृहेदु[2] द्यच्छेन्निष्कर्षेत्पृथक्कुर्यादित्यर्थः। किमिवेत्युच्यते। मुञ्जादिवेषीकामन्तस्थां धैर्येणाप्रमादेन। तं शरीरान्निष्कृष्टं चिन्मात्रं विद्याद्विजानीया-च्छुक्रममृतं यथोक्तं ब्रह्मेति। द्विर्वचनमुपनिषत्परिसमाप्त्यर्थमितिशब्दश्च ।।१७।।

विद्यास्तुत्यर्थोऽयमाख्यायिकार्थोपसंहारोऽधुनोच्यते—

मृत्युप्रोक्तां यथोक्तामेतां ब्रह्मविद्यां योगविधिं च कृत्स्नं समस्तं सोपकरणं सफल-मित्येतत्। नाचिकेतो वरप्रदानान्मृत्योर्लब्ध्वा प्राप्येत्यर्थः। किम्? ब्रह्मप्राप्तोऽभून्मुक्तोऽभव

।।१७।।

है, उसे अपने शरीर से विवेक द्वारा पृथक् करे। कैसे? इस पर कहते है—मूँज से उसकी अन्तर्वर्ती सींक पृथक् की जाती है। इस प्रकार शरीर से पृथक् किये हुए उस अंगुष्ठ परिमाण पुरुष को ही पूर्वोक्त चिन्मात्र विशुद्ध अमृत स्वरूप को ही ब्रह्म समझे। यहाँ पर "तं विद्याच्छुक्रममृतम्" इस पद की द्विरावृत्ति और इति शब्द का प्रयोग इस उपनिषत् की समाप्ति के लिये है ।।१७।।

इस आख्यायिका के अर्थ का अब उपसंहार विद्या की स्तुति के लिये कहा जता है। यमाचार्य द्वारा कही गयी इस पूर्वोक्त ब्रह्मविद्या और सम्पूर्ण योगविधि फल के सहित ब्रह्मविद्या के साधन को वर प्रदान के रूप में यमाचार्य से नचिसेता प्राप्त कर क्या हो गया? इस पर कहते हैं—ब्रह्म को प्राप्त हो गया अर्थात् मुक्त हो गया। कैसे? पहले विद्या की प्राप्ति

---

१. तं स्वादित्यादिना त्वंपदार्थशोधनं विधाय शोधितं तमनूद्य तस्य तथाविधतत्पदार्थाभेदावगमं विवक्षितं ब्रवीति—तं विद्यादित्यादिना। २. वृहू उद्यमने इति धातुप्रयोगं सूचयन्व्याचष्टे—उद्यच्छेदिति।

सह नाववतु । सह नौ भुनक्तु । सह वीर्यं करवावहै । तेजस्विनावधीतमस्तु मा विद्विषावहै ॥१९॥

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

इति काठकोपनिषदि द्वितीयाध्याये तृतीया वल्ली समाप्ता ॥३॥ (६)

इति काठकोपनिषदि द्वितीयोऽध्यायः समाप्तः ॥२॥

पूर्ववत् ॥१९॥

॥ इति तृतीया वल्ली समाप्ता ॥

दित्यर्थः । कथम् ? विद्याप्राप्त्या विरजो विगतधर्माधर्मो विमृत्युर्विगतकामाविद्यश्च सन्पूर्वमित्यर्थः । न केवलं नाचिकेत एवान्योऽपि नाचिकेतवदात्मविदध्यात्ममेव निरुपचरितं प्रत्यक्स्वरूपं प्राप्य तत्त्वमेवेत्यभिप्रायः । नान्यद्रूपमप्रत्यग्रूपम् । तदेवमध्यात्ममेवमुक्तप्रकारेण यो वेद विजानातीत्येवंवित्सोऽपि विरजः सन्ब्रह्मप्राप्त्या विमृत्युर्भवतीति वाक्यशेषः ॥१८॥

शिष्याचार्ययोः प्रमादकृतान्यायेन विद्याग्रहणप्रतिपादननिमित्तदोषप्रशमनार्थेयं शान्तिरुच्यते—

सह नावावामवतु पालयतु विद्यास्वरूपप्रकाशनेन । कः ? स एव परमेश्वर

आत्मानं देहमधिकृत्य वर्तत इत्यध्यात्मम् । प्रत्यक्स्वरूपमेव ब्रह्म प्राप्य विमृत्युर्भवति नान्यद्रूपमर्चिरादिमार्गगम्यं प्राप्य संयोगस्य वियोगावसानत्वादित्यर्थः । एवंशब्दस्य विच्छब्देन सह सम्बन्ध एवं विदिति ॥१८॥

द्वारा धर्माधर्मरूप रज से रहित हो कामना और अविद्या से सर्वथा छूटकर मुक्त हो गया, यह इसका अभिप्राय है । न केवल नचिकेता मुक्त हुआ, प्रत्युत नचिकेता के समान दूसरा आत्मज्ञानी भी; अर्थात् (जिसकी दृष्टि में) अपने देहादि का अधिष्ठाता उपचार शून्य (मुख्य) प्रत्यक् स्वरूप ही वास्तविक तत्त्व है; अन्य अनात्मवस्तु तत्त्व नहीं, इस प्रकार जो पूर्वोक्त उसी अध्यात्मरूप को जानता है । इस प्रकार नचिकेता के समान अन्य ब्रह्मवित् पुरुष भी धर्माधर्म से रहित होकर ब्रह्मप्राप्ति द्वारा मृत्यु रहित हो जाता है, इतना वाक्य शेष है ॥१८॥

प्रमाद के कारण अन्याय से विद्या के ग्रहण और प्रतिपादन निमित्त से होने वाले शिष्य और आचार्य के दोषों की निवृत्ति के लिए अब यह शान्ति कही जाती है—

विद्या के स्वरूप का प्रकाशन कर हम (शिष्य और आचार्य) दोनों की रक्षा साथ-साथ करें ।

उपनिषत्प्रकाशितः । किञ्च सह नौ भुनक्तु तत्फलप्रकाशनेन नौ पालयतु। सहैवाऽऽवां विद्याकृतं वीर्यं सामर्थ्यं करवावहै निष्पादयावहै । किंच तेजस्विनौ तेजस्विनोरावयोर्यदधीतं तत्स्वधीतमस्तु । अथवा तेजस्वि नावावाभ्यां यदधीतं तदतीव तेजस्वि वीर्यवदस्त्वित्यर्थः । मा विद्विषावहै शिष्याचार्यावन्योन्यं प्रमादकृतान्यायाध्ययनाध्यापनदोषनिमित्तं द्वेषं मा करवावहा इत्यर्थः । शान्तिः शान्तिः शान्तिरिति त्रिर्वचनं सर्वदोषोपशमनार्थमित्योमिति ॥१९॥

इति काठकोपनिषद्भाष्ये द्वितीयाध्याये तृतीया वल्ली समाप्ता ॥३॥ (६)

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यश्रीमदाचार्यश्रीशङ्करभगवतः कृतौ काठकोपनिषद्भाष्ये द्वितीयोऽध्यायः समाप्तः ॥२॥

॥१९॥

इति काठकोपनिषद्भाष्यटीकायां द्वितीयाध्याये तृतीया वल्ली समाप्ता ॥३॥ (६)

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमच्छुद्धानन्दपूज्यपादशिष्यानन्दज्ञानविरचिते काठकोपनिषद्भाष्यव्याख्याने द्वितीयाध्यायः समाप्तः ॥२॥

कौन रक्षा करे ? उपनिषत् प्रकाशित वह परमेश्वर ही हमारी रक्षा करे तथा उसके फल को प्रकाशित कर वह परमेश्वर हम लोगों का एक साथ पालन करे । हम दोनों विद्याकृत सामर्थ्य का साथ-साथ प्राप्त करें और हम दोनों तेजस्वियों का जो अध्ययन किया हुआ है, वह सुपठित हो जावे अथवा हम दोनों का जो अध्ययन किया हुआ शास्त्र ज्ञान है, अत्यन्त सामर्थ्यशाली होवे और हम शिष्य एवं आचार्य परस्पर विद्वेष न करें अर्थात् प्रमादकृत अन्याय से अध्ययन और अध्यापन में होने वाले दोषों के कारण हम दोनों परस्पर एक-दूसरे से द्वेष न करें । शान्ति शब्द का तीन बार उच्चारण आध्यात्मिकादि समस्त त्रिविध दोषों को शान्ति के लिये किया गया है । इत्योम् ।

॥ श्रीशङ्करः प्रीयताम् ॥

इति परिसमाप्तेयं सटिप्पणटीकाद्वयसंवलितशाङ्करभाष्यसमेता काठकोपनिषत् ॥

अधीत्याचार्यपादेभ्यो हिरण्यदेवाख्यभिक्षुणा । गिरिणा स्वमनस्तुष्ट्यै निरमायि सुटिप्पणम् ॥

काठकोपनिषदन्तर्गतमन्त्रप्रतीकानां वर्णानुक्रमणिका

समाप्ता चेयं मन्त्रप्रतीकवर्णानुक्रमणी ।